आर्थिक विकास की कहानी

लेखक

शंकर सहाय सक्सेना

आचार्य—महाराणा भूपाल कालेज, उदयपुर

प्रारम्भिक अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, भारतीय अर्थशास्त्र की रूप-रेखा, आर्थिक भूगोल, ग्राम्य अर्थशास्त्र, बैंकिंग, मुद्रा तथा विनिमय, भारतीय सहकारिता आन्दोलन आदि के रचयिता।

श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा

प्रस्तावना

मानव जाति के इतिहास का अध्ययन इतना रोमाचकारी, रहस्यमय और घटनाओ से परिपूर्ण है कि इतिहास का विद्यार्थी उसे पढ कर चकित हो उठता है। वह कभी कभी अपने वीर पूर्वजो के शौर्य और वीरता के कार्यों की विरदावली को पढकर विभोर हो जाता है, और आवेश के कारण उसकी धमनियो का रक्त प्रवाह गतिमान होकर उसमे उत्तेजना उत्पन्न कर देता है। वह इतिहास के पात्रो के हृदयो के भावों का स्पन्दन स्वय अनुभव करता है और जागृत दशा में ही वह स्वप्नलोक मे पहुच जाता है।

कभी-कभी वह इतिहास के पन्नों मे वडे-वडे साम्राज्यो के वैभव और ऐश्वर्य की महिमा को पढ कर आश्चर्यचकित हो जाता है, और उस सुदूर भूतकाल के ऐश्वर्य और वैभव का काल्पनिक चित्र अपने मस्तिष्क मे खीचने का प्रयत्न करता है!

दु खी मानव को सुख का आभास कराने तथा अंधकार मे प्रकाश-स्तम्भ की भाति जो समय-समय पर महान सत और पथप्रदर्शक इस धरा पर अवतरित हुए है उनके स्वच्छ, निर्मल और आध्यात्मिक जीवन को पढकर मानव नतमस्तक होकर उनके व्यक्तित्व और सदेश के प्रति अपनी अर्चना और श्रद्धा भेंट करता है।

यही नही महान दार्शनिको, कलाकारों, कवियों, साहित्यकारों, वैज्ञानिको की प्रतिभा की कहानिया जब वह पढ़ता है तो वह सोचता है कि काश मै भी ऐसी प्रतिभा का स्वामी होता!

महान व्यक्तियों के प्रति अटूट श्रद्धा और वीर पूजा की भावना उसे

यह जानने का अवसर ही प्रदान नही करती कि वह यह देख सके कि सर्व-साधारण ने मनुष्य समाज के रूप मे कैसा अद्भुत कार्य किया है जिसकी समता इतिहास की कोई भी एक घटना नही कर सकती । बात यह है कि मनुष्य समाज ने यह कार्य इस प्रकार शनै-शनै किया है कि किसी व्यक्ति को उसका आभास ही नही हो पाता । यही कारण है कि सर्व-साधारण उस महान परिवर्तन से, जिसका विस्तार बहुत दीर्घ काल के आवरण मे ढका है, उतना प्रभावित नही होता जितना कि किसी एक महत्त्वपूर्ण घटना से जिसका प्रभाव एक सीमित समय या परिस्थिति मे होता है ।

कल्पना कीजिए कि मनुष्य ने अपनी क्षुधा के प्रश्न, अपने जीवन-यापन के प्रश्न, को किस प्रकार हल किया है । एक जगली जाति के स्वावलबी जीवन को ले लीजिए जो हमें मनुष्य जाति की प्रारम्भिक अवस्था की स्मृति दिलाता है और आज के दुरूह आर्थिक ढाचे को देखिए कैसा आकाश-पाताल का अन्तर है दोनो मे । क्या मनुष्य समाज की यह यात्रा कुछ कम रोमाचकारी और रहस्यमयी है ? बात यह है कि मनुष्य जाति बिना भली प्रकार जाने हुए ही इस लबी यात्रा के मोडो पर मुडती गई और आज की स्थिति में पहुच गई । मनुष्य ने इन मोडो के बीच में कोई रोमाचकारी अथवा रहस्यमय परिवर्तन नही पाया यही कारण है कि वह उससे इतना अधिक प्रभावित नही होता । परन्तु यदि कोई व्यक्ति मनुष्य जाति के प्रारम्भिक जीवन से आज तक जो उसने अपने आर्थिक जीवन मे परिवर्तन स्वीकार किए है उनका क्रमबद्ध अध्ययन करे तो वह आश्चर्यचकित हुए बिना नही रह सकता ।

प्रश्न केवल यही नही है कि हम इस महान परिवर्तन का क्रमबद्ध अध्ययन केवल इस लिए करें कि उसके अन्तर्गत हमें वास्तव में मनुष्य जाति को समझने को बहुत कुछ सामग्री मिलेगी, वरन मनुष्य जाति के आर्थिक विकास का अध्ययन करना इसलिए भी आवश्यक है कि उसके आधार पर ही हम सच्चे अर्थो में मनुष्य जाति के राजनीतिक, धार्मिक, सास्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा कलात्मक जीवन का अध्ययन कर सकते है ।

अभी तक लेखको तथा शिक्षण सस्थाओ ने इस कमी की ओर अधिक ध्यान नही दिया और साधारण पाठक मनुष्य जाति की आर्थिक विकास की कहानी से नितान्त अपरिचित है। लेखक ने इस छोटी सी पुस्तक मे मनुष्य जाति के आर्थिक विकास की कहानी इसी अभिप्राय से कही है कि जिससे साधारण पाठक को इतिहास की वास्तविक जानकारी प्राप्त हो सके।

उदयपुर
२–१०–१९५५

शकर सहाय सक्सेना

विषय-सूची

अध्याय | पृ०

अध्याय		पृ०
१	मनुष्य का प्रारम्भिक जीवन	१
२	कृषि और पशुपालन का उदय	७
३	ग्राम संस्था, खेती तथा कुटीर-धंधो का विकास	१६
४	भारत की आर्थिक सम्पन्नता	३०
५	औद्योगिक-क्राति	३७
६	कृषि में क्राति	६०
७	व्यापारिक-क्राति	७०
८	पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था का उदय	९६
९	पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था में श्रमजीवी वर्ग	११३
१०	साम्राज्यवाद	१३४
११	समाजवाद और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था	१४५
१२	विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था (सर्वोदय)	१५९
१३	भारत का आर्थिक विकास	१७१

अध्याय पहला

मनुष्य का प्रारम्भिक जीवन

आज जब हम आधुनिक नगरो में भवन-निर्माण विज्ञान की उन्नति के प्रतीक सुन्दर भवनो मे निवास करते है जिनमे मनुष्य को सभी प्रकार की सुविधाए प्राप्त हैं, जो विद्युत से आलोकित हैं और जल का प्रतिक्षण नल में प्रवाह बहता रहता है तब हम यह भूल जाते है कि मनुष्य ने निवास की इस सुविधा को हजारो वर्षों के सतत प्रयत्न और अनवरत परिश्रम से प्राप्त किया है। आरम्भ मे मनुष्य भौगोलिक तथा आर्थिक परिस्थिति के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार के निवास स्थानो का निर्माण कर उनमें रहता था। सघन वनो से आच्छादित जल से परिप्लावित प्रदेश मे वृक्षो पर मचान बनाकर उसको वृक्षो के पत्तो से ढक कर अपने रहने के लिए स्थान बनाता था। इस प्रकार वह जगली जानवरो तथा विषैले कीडो से अपनी रक्षा करता था। कही मनुष्य पर्वतीय प्रदेश मे प्रकृति द्वारा निर्मित गुफाओ और कन्दराओ को ठीक करके उनको अपना आवास-स्थान बनाता था। इन कन्दराओ के मुख को वह किसी बडे शिलाखड से ढँक देता और इस प्रकार वह हिंसक पशुओ से अपनी रक्षा करता था। जो प्रदेश अत्यन्त शुष्क है, जहा वनस्पति का नितान्त अभाव है और जो पर्वतविहीन मरुस्थल है वहा मनुष्य अपने पशुओ के लिए चारे की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता फिरता था। अस्तु, कोई स्थायी आवास तो वह बना नही सकता था। अतएव उसने अपने पशुओं की खाल के तम्बू बनाये और उनमें रहने लगा। जहां भी थोडा चारे और जल की सुविधा देखता वही अपने डेरे लगा देता, और चारे तथा जल की कमी होने पर वहा से डेरे उखाड कर चल देता। जहा वन अत्यन्त सघन नही होते, और हिंसक जन्तुओ का भय नही होता वहा मनुष्य वन के वृक्षो की लकड़ी और डालों तथा पत्तो की सहायता से अपनी कुटिया

निर्माण कर लेता। जो जातिया मछलियो के शिकार पर जीवन निर्वाह करती वे नदियो के किनारे जगलो को काट कर अपने लिए झोपडे तैयार कर लेती। ध्रुव प्रदेश मे ऐस्किमो बर्फ की गुफायें बनाकर उसमें रहता है।

बात यह है कि मनुष्य को शीत, ग्रीष्म, वर्षा तथा हिंसक जीव-जन्तुओं से अपनी रक्षा करने के लिए कोई-न-कोई सुरक्षित स्थान तो चाहिए ही था। अस्तु, उसने भौगोलिक और आर्थिक परिस्थिति के अनुरूप ही अपने निवास-स्थान का निर्माण किया। किन्तु शिकारी जीवन मे मनुष्य एक स्थान पर जमकर बहुत लम्बे समय तक नही रह सकता था, अस्तु, वह अपेक्षाकृत अस्थायी और कम टिकाऊ निवास-स्थानो का ही निर्माण करता था।

बीसवी शताब्दी मे इस शिकारी जीवन के चिन्ह सर्वथा अवशेष नही हो गए है। मलाया की सेमाग और सकाई जातिया, अडमन द्वीप के आदि-वासी, फिलीपाइन्स की ऐटा, सुमात्रा की कूबू, तथा सैलीबीज द्वीपसमूह की टौला जातिया आज भी वहा वनो पर निर्भर रहकर शिकारी जीवन व्यतीत करती है। वे या तो वृक्षो के ऊपर मचान बनाकर झोपडे बनाते है, या किसी ऊचे स्थान पर अपनी कुटिया बनाकर आज भी रहते हैं। इसी प्रकार भारत में आसाम के वन-आच्छादित प्रदेश मे आज भी शिकारी जातिया निवास करती हैं। उत्तरी अमेरिका के ब्लैकफुट जाति के लोग जो जगली भैसो का शिकार करके अपना जीवन व्यतीत करते है, वे अपने रहने के लिए भैसो की खाल के तम्बू बनाते है और उन्ही में रह कर शीत, ग्रीष्म और वर्षा से अपनी रक्षा करते हैं।

आज जो शिकारी जातियो के यह अवशेष-मात्र रह गए है, वे इस बात के द्योतक है कि प्रारम्भिक अवस्था मे मनुष्य जाति शिकारी जीवन व्यतीत करती थी, और उसी के द्वारा अपना भरण-पोषण करती थी। जो प्रदेश अधिक उपजाऊ थे, मैदान थे, जहा का जलवायु परिश्रम करने के अनुकूल था और नदियो के कारण जलमार्ग उपलब्ध थे वहा क्रमश खेती का विकास हुआ और वाणिज्य और व्यवसाय की उन्नति हुई, गाव, कस्बे स्थापित हुए और बहुत समय के उपरान्त यातायात की अधिक सुविधा उपलब्ध होने पर

तथा यंत्र तथा यांत्रिक शक्ति का आविष्कार होने पर बडे-बडे औद्योगिक केन्द्र विकसित हुए, जिनके भीमकाय पुतलीघरो तथा फैक्टरियो की चिमनियो का धुआं एक काले पर्दे की भांति उस नगर को अपने आवरण में ढके रहता है। अधिकांश मानव-समाज आर्थिक उन्नति की यात्रा में बहुत आगे बढ़ गया है। परन्तु यह जो थोडी-सी जातिया मनुष्य के प्रारम्भिक जीवन की अवस्था में रह रही है, वे केवल इस कारण कि उनका निवास-स्थान भौगोलिक दृष्टि से अन्य प्रदेशो की अपेक्षा इतना बीहड, निर्जन और पृथक् है कि उनका अन्य जातियो तथा प्रदेशो से सम्पर्क स्थापित नही हो पाता। यह प्रदेश मनुष्य जाति की प्रारम्भिक अवस्था के चिन्ह-अवशेष बन कर रह गए हैं। यदि तनिक ध्यान दिया जावे तो यह स्पष्ट हो जावेगा कि आज यह जातिया केवल उन प्रदेशो में निवास करती है जिनको प्रकृति ने जनसख्या से भरे-पूरे प्रदेशों से दूर भूमध्य रेखा के अत्यन्त नम प्रदेशो के सघन वनो में, सहारा, अरब तथा अन्य शुष्क रेगिस्तानो में; हिमालय, राकी तथा अन्य पर्वतीय प्रदेशो के अचल में; और उत्तरी ध्रुव के हिम-आच्छादित गौन भूखंडो में, रख छोड़ा है। यातायात का अभाव होने, प्रकृति के अत्यन्त विपरीत होने से, आज भी यह कतिपय समूह आधुनिक सभ्यता से अछूते हैं। परन्तु मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था के यह अवशेष हमें इस बात का ध्यान दिलाते हैं कि आरम्भ में सारी मनुष्य जाति इसी प्रकार के शिकारी जीवन को अपनाये हुए थी। आइये, अब हम मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था अर्थात् शिकारी जीवन की झाकी ले लें।

शिकारी जीवन

शिकारी जीवन का यह अर्थ कदापि नही है कि आरम्भ में मनुष्य जीव-जन्तुओं का केवल शिकार मात्र करता था। इसमें तनिक भी सदेह नही कि जंगली पशुओं को मार कर उनका मांस खाना उसके जीवन के निर्वाह का एक मुख्य साधन था परन्तु मनुष्य जंगली वृक्षो के फलों, कन्द, मूल तथा वनस्पति द्वारा उत्पन्न अनाज का भी उपयोग करता था। जहा नदी या झील होती वहा वह मछली भी पकड़ता था। शिकारी अवस्था से हमारा अभि-

प्राय यह है कि मनुष्य प्रकृति द्वारा उत्पन्न वस्तुओं को लेकर उनका उपभोग करता था । आज की भाति वह उन वस्तुओ को उत्पन्न करने मे प्रकृति को सहायता नही देता था । आज जिन अनाजो का हम उपयोग करते है, जिन सब्जियो को हम खाते है, जिन फलो और मेवा को हम बागो मे उत्पन्न करते है वे सभी उस समय जगली अवस्था मे उत्पन्न होती थी और मनुष्य उनका उपभोग करता था, परन्तु उनको उत्पन्न नही करता था । जहा जो वस्तु प्रकृति उत्पन्न कर देती थी उसको एकत्रित कर लेता था । इसी प्रकार पशुओ को वह पालता नही था, उनका शिकार करता था । जो बर्फीले प्रदेश थे, जहा बहुत शीत पडता था, वहा यह शिकारी जातिया सम्मिलित उद्योग से बहुत बडी सख्या मे पशुओ को मार कर शीत काल के लिए मास इकट्ठा कर लेती थीं, जहा यह सुविधा नही थी वहा प्रतिदिन जगल मे शिकार के लिए जाना पडता था । आइए, अब हम शिकारी जातियो के कार्य का एक दृश्य देखे ।

'विशाल पश्चिम के शिकार क्षेत्र' नामक पुस्तक मे आर आई डाज ने अमेरिकन इडियनो के भैसोके शिकार का वर्णन इस प्रकार किया है "इन कबीलो को मस्तिष्क से अधिक काम नही लेना पडता किन्तु उन्हें पेट की क्षुधा बराबर सताती रहती है, इस कारण यह कबीले उसी से प्रभावित होते है । कबीले के सारे शिकारी एक सघ बना लेते है और यही कबीले की उत्पादन शक्ति होते है । अपने क्षेत्र में इन शिकारियो के सघ का निर्णय अन्तिम होता है । यह शिकारी सैनिक साधारण प्रश्नो का निर्णय स्वय करते हैं किन्तु विशेष बातो के लिए किसी अधिक अनुभवी, प्रसिद्ध तथा बुद्धिमान शिकारी को अपना नेता चुन लेते है । इन शिकारी सैनिको में बहुत से लडके भी होते है । जिन्हे शिकार का पूरा अनुभव नही होता वे शिकार करना सीखतेहै । सक्षेप में यह सघ ही कबीलो की सारी श्रम शक्ति होती है।

प्रत्येक वर्ष शीतकाल प्रारम्भ होने से पूर्व बडा शिकार होता है जिससे कि शीत काल के लिए मास इकट्ठा करके रक्खा जा सके । जब सब तैयारी हो चुकती है तो कुशल शिकारी प्रात काल होने से पूर्व ही निकल जाते हैं । यदि भैसो के कई झुड मिल जाते है तो किसी ऐसे झुड को छाट लिया जाता है

कि जिसको मारने से होने वाले शोर और दौड धूप से और झुड भड़क न जाय। जब भैंसो का झुड ठीक स्थान पर होता है तो शिकारी नेता कुछ नायको की टोलिया बनाकर निश्चित स्थानो पर भेज देता है। जब सब अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुच जाते हैं और झुड को घेर लेते है तो शिकारियो का नायक कुछ शिकारियो को लेकर उस घेरे के मुह को बद कर देता है और एक सकेत करता है। एक भयानक शब्द करते हुए सब शिकारी भैंसो के झुड की ओर उन्हें घेरे हुए बढते है। जब शिकारियो का घेरा सकुचित होकर भैंसो से उचित दूरी पर आ जाता है तो नेता के सकेत पर तीक्ष्ण तीर एक साथ छूटते हैं और भैंसो का झुड मार कर गिरा दिया जाता है। प्रत्येक शिकारी अपने तीर को पहचान कर अपने मारे हुए भैंसे को पहचान लेता है। यह भैंसे उसकी व्यक्तिगत सपत्ति होते है। उसमे से कुछ भाग विधवाओ अथवा उन परिवारो के भरण-पोषण के लिए ले लिया जाता है कि जिनमें कोई शिकारी नही होता। यदि एक ही भैंसे के शव मे एक से अधिक शिकारी के तीर मिलते हैं तो उन तीरो की स्थिति से उसके स्वामित्व का प्रश्न निश्चित होता है। शिकारी नेता इन प्रश्नो का निर्णय करता है।

यह ध्यान देने की बात है कि शिकारी जातियो में धन का उत्पादन सामूहिक रूप से होता है। उत्पादन कार्य मे बहुत प्रकार के श्रमिक सहयोग करते हैं। इन शिकारियो मे उत्पादन कार्य मे श्रम-विभाजन तथा व्यवस्थित सहकारिता देखने को मिलती है और सारे कार्य एक योजना के अनुसार होते हैं। जो धन इस सम्मिलित सहयोग से उत्पन्न होता है वह पूर्व-निर्धारित नियमो के अनुसार बाट लिया जाता है, उसका कोई विनिमय नही होता है।"

शिकारी जातियो को बहुत से कार्य सम्मिलित रूप से करने पड़ते थे इस कारण उनमें सगठन और भाईचारा बहुत सुदृढ होना था। वे साथ साथ रहते थे, स्त्रिया यदि शिकार में सहायक नहीं होती तो जगलो से कद मूल, फल, वनस्पति, अनाज इत्यादि एकत्रित करती, खालो के वस्त्र बनाती, तथा घरो की व्यवस्था करती थी। कहने का अर्थ यह कि प्रारम्भिक अवस्था

में मनुष्य जाति अपनी आजीविका के लिए प्रकृति पर ही निर्भर रहती थी, उसमे प्रारम्भिक श्रम-विभाजन और सहकारिता का विकास हो चुका था। किन्तु विनिमय नही होता था। यदि किसी के पास भोजन की कमी हो जाती थी तो वह कबीले के उस घर से माग लेता था जिसके पास उनकी आवश्यकता से भोजन अधिक होता था और बाद को लौटा देता था। जब स्थिति ऐसी थी तो वाणिज्य का प्रादुर्भाव कैसे हो सकता था, और न ही कारीगर वर्ग उत्पन्न हो सकता था क्योकि उनकी आवश्यकताए बहुत सीमित थी और वे स्वय ही उनकी पूर्ति कर लेते थे। जीवन पूर्ण स्वावलम्बी था।

इस अवस्था को हम सामूहिक उत्पादन की अवस्था कह सकते हैं। शिकारी जीवन में मनुष्य को बहुत कुछ प्रकृति पर निर्भर रहना पडता था अतएव अपनी सुरक्षा के लिए भोजन इत्यादि को वनो से एकत्रित करने के लिए तथा शिकार करने के लिए उसे इस बात की आवश्यकता थी कि वह समूह मे रहे और अपनी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए सामूहिक प्रयत्न करे। केवल इसीलिए कि वह अपने लिए भोजन इत्यादि उत्पन्न करे उसे सम्मिलित प्रयत्न करने की आवश्यकता नही थी वरन् अपने वन पर अन्य कबीलो का अधिकार न हो जावे इसके लिए भी मनुष्य को सामूहिक प्रयत्न की आवश्यकता थी। उस समय मनुष्य की आवश्यकताए केवल भोजन, शरीर को ढकने तथा रहने के लिए झोपडे तक ही सीमित थी।

अध्याय दूसरा

कृषि और पशुपालन का उदय

शिकारी जीवन में ही मनुष्य को यह विदित हो गया था कि कतिपय वृक्ष ऐसे फल उत्पन्न करते हैं जो कि मनुष्य के भोजन का काम दे सकते हैं, भिन्न-भिन्न वनस्पतियो का क्या उपयोग हो सकता है वह अनुभव से इस बात को जान चुका था। अनाजो के विषय में भी उसकी जानकारी बढ़ चुकी थी, और पशु-पक्षियो की उपयोगिता को भी वह परख चुका था। अभी तक वह प्रकृति-प्रदत्त इन वस्तुओ का विनाश करके ही अपनी उदर-पूर्ति करता था और अपने उपयोग में आने वाली वस्तुओ को प्राप्त करता था परन्तु शनै-शनै. उसको यह भान होने लगा कि यदि वह इस विनाशकारी प्रणाली को त्याग कर इनकी रक्षा करे तो उसको अधिक भोजन और निश्चित भोजन प्राप्त हो सकता है। यहा से ही मनुष्य का शिकारी जीवन समाप्त हुआ और खेती और पशुपालन का जीवन प्रारम्भ हुआ।

कृषि का प्रादुर्भाव

आरम्भ में, जब मनुष्य वनो में रह कर वहा के पशु-पक्षियों को मार कर तथा फलो इत्यादि से अपनी उदर-पूर्ति करता था, उसमें तथा पशुओ में विशेष अन्तर नही था। किन्तु क्रमशः मनुष्यो की सख्या में वृद्धि होती गई और उस बढ़ी हुई जनसख्या के लिए अधिकाधिक भोजन की आवश्यक्ता हुई। बढ़ती हुई जनसख्या के भोजन के लिए केवल वनो से यथेष्ट भोजन प्राप्त नही हो सकता था, अतएव मनुष्य ने पशुओ का मारना बंद कर दिया और उनको पालना आरम्भ किया। सम्भवतः पशुपालन पकडे हुए पशुओ के सुन्दर बच्चो को न मार कर उन्हें प्यार के कारण जीवित रखने के कारण आरम्भ हुआ होगा। घर के बच्चे उनसे खेलते होगे और क्रमशः घर के सभी

स्त्री पुरुषो को उनसे प्रेम उत्पन्न हो गया होगा । इस प्रकार वे पाल लिये गए होगे और कालान्तर में उनके बडे होने पर उनसे और बच्चे उत्पन्न हुए होगे । तब शिकारी मनुष्य को सहसा यह ज्ञान हुआ होगा कि यदि पशुओ को और पक्षियो को मारने के स्थान पर पकड कर पाल लिया जावे तो शीघ्रता से उनकी वश-वृद्धि होती है और उनसे दूध या मास के रूप मे अधिक निश्चित भोजन प्राप्त हो सकता है । शिकारी जीवन मे मनुष्य को एक कठिनाई का निरन्तर सामना करना पडता था । किसी दिन वे कई पशु एक साथ मार लेते थे तो उनके पास आवश्यकता से अधिक मास उपलब्ध हो जाता था जो व्यर्थ हो जाता था, और किसी दिन ढूढने से भी शिकार नही मिलता था तो उन्हें भूखे पेट रात्रि को सोना पडता था । अतएव शिकारी मनुष्य के मन मे यह बात घर कर गई कि पशु-पक्षियो को मारने की अपेक्षा उन्हे पालने से अधिक भोजन और निश्चित भोजन प्राप्त हो सकता है । अस्तु, शिकारी जातियो ने पशु पक्षियो को पालने का धधा अपनालिया। पशु-पक्षियो को पालने से उसे यह भी ज्ञात हुआ कि कतिपय पशु दूध देते है आर उन्हे मार कर मास खाने की अपेक्षा उनसे दूध उत्पन्न किया जा सकता है । यही नही, उसे यह भी अनुभव ने बतलाया कि घोडा इत्यादि पशु सवारी के लिए अत्यन्त उपयोगी है, उनका सवारी के लिए उपयोग करने से मनुष्य की कार्य-क्षमता बहुत अधिक बढ सकती है । वह स्वय एक स्थान से दूसरे स्थान पर सुगमता और कम समय मे आ-जा सकता था । उनका उपयोग यात्रा, शिकार, बोझ ढोने तथा कृषि के लिए किया जा सकता था । अस्तु, मनुष्य ने उनको भी पालना आरम्भ कर दिया और इस प्रकार मनुष्य जाति ने आर्थिक विकास की एक सीढी को पार कर लिया । आज हम जिन पशुओ और पक्षियो का उपयोग खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने, बोझ ढोने, सवारी करने तथा खेती करने मे करते है वे मानव जाति की प्रारम्भिक अवस्था में ही पालतू बना लिये गए थे । जिन हिसक जीव-जन्तुओ को मनुष्य उस समय पालतू नही बना सका वे आज तक भी पालतू नही बनाये जा सके। यह इस बात का द्योतक है कि उनका अनुभव तथा बुद्धि सूक्ष्म थी।

शिकारी अवस्था मे ही मनुष्य कतिपय वृक्षो के फलो तथा पौधो के अनाजो की उपयोगिता को समझ गया था। वह जान गया था कि कौन से वृक्ष और पौधे अधिक उपयोगी है और कौन से वृक्ष कम उपयोगी हैं। आरम्भ मे प्रत्येक वृक्ष जगली अवस्था में उत्पन्न होता था, अतएव उपयोगी पौधो और वृक्षो के साथ साथ कम उपयोगी अथवा अनुपयोगी वृक्ष और पौधे भी उगे रहते थे। इस कारण मनुष्यो को उपयोगी पौधो के अनाज और वृक्षो के फलो को इकट्ठा करने मे बडी कठिनाई होती थी। अतएव मनुष्य ने अनुपयोगी वृक्षो और पौधो को काटना आरम्भ कर दिया। इसका परिणाम यह होता था कि भूमि के एक टुकडे पर केवल उपयोगी वृक्ष या पौधे ही खडे रहने दिए जाते थे, और जब फल या अनाज पकता था तो वह सरलता से इकट्ठा किया जा सकता था। अब मनुष्य ने देखा कि इस प्रकार अनुपयोगी वृक्षो और पौधो को नष्ट कर देने से उपयोगी वृक्षों और पौधो की बढवार अच्छी होती है और वे पहले की अपेक्षा अधिक फल और अन्न उत्पन्न करते हैं। इधर जनसख्या मे उत्तरोत्तर वृद्धि होने के कारण मनुष्य को खाद्य पदार्थो की अधिक आवश्यकता अनुभव होने लगी थी। उसने देखा कि इस प्रकार फल और अन्न उत्पन्न करने से बहुत सी भूमि व्यर्थ रहती है क्योकि उन पौधो के बीच मे बहुत सी भूमि छूटी रहती थी। अतएव उसने भूमि के समस्त टुकडे को साफ करके उसे खोद कर वृक्ष तथा पौधो के बीज बराबर दूरी पर डाल कर उन्हें उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया क्योकि वह यह देख चुका था कि बीज से ही वृक्ष या पौधा उत्पन्न होता है। तभी से मानव समाज ने कृषि करके अपने लिए खाद्य पदार्थ तथा अन्य उपयोगी वस्तुए उत्पन्न करना आरम्भ कर दी और कृषि का प्रादुर्भाव हुआ।

आरम्भ मे मनुष्य जगलो को जलाकर साफ कर लेते और फिर बीस या पच्चीस वर्ष उस पर अनवरत खेती करते रहते। उन्हे अनुभव से यह ज्ञात हुआ कि लगातार एक ही भूमि पर बहुत वर्षों तक खेती करने से भूमि निर्बल होती जाती है और उसकी उर्वरा शक्ति का ह्रास होने लगता है तथा उपज कम होने लगती है। अतएव वह निर्बल भूमि को छोड़ कर जगल के दूसरे टुकड़े को जलाकर साफ कर लेता और उस पर खेती करने लगता।

कालान्तर मे जब उस भूमि पर उर्वरा शक्ति के क्षीण होने के चिन्ह दृष्टि-गोचर होने लगते तो उसे छोड देता और अपने पहले भूमि के टुकडे पर आ जाता जिस पर उन बीस-पच्चीस वर्षो मे फिर बन खडा हो जाता। उसे जला कर साफ करता और फिर उस पर खेती करने लगता। इस प्रकार दो भूमि के टुकडो को बारी-बारी से साफ करके वह खेती करता रहता था। इसे "झूम खेती" कहते है और आज भी कतिपय पिछडे हुए भूभागो मे जगली जातिया इसी प्रकार खेती करती है। आसाम की पहाडियो मे नागा और खासी जातिया आज भी इसी प्रकार खती करती है।

कालान्तर में वे सभी पशु पक्षी जो कि पालतू बना लिये गए और वे पौधे और वृक्ष जिनकी खेती होने लगी सुकुमार हो गए और उनकी शक्ति क्षीण हो गई। आज यदि इन पालतू पशुओ को और वृक्ष तथा पौधो को जगली अवस्था में छोड दिया जावे, उनकी रक्षा और देखभाल न की जावे तो उनका जीवित रहना असम्भव हो जावे। जगली पशु-पक्षियो के साथ आज यदि पालतू पशु-पक्षी रख दिए जावें तो वे नही रह सकते। इसी प्रकार जगली वृक्षो तथा पौधो के साथ इन पौधो का उगना असम्भव हो जावे क्योकि वे अधिक शक्तिवान है और यह पौधे हजारो वर्षों की सुरक्षा और देखभाल के कारण अपनी उस शक्ति को खो चुके है।

इस प्रकार खेती करने से भूमि का बहुत अधिक अपव्यय होता था। जैसे-जैसे जनसख्या बढती गई और अपेक्षाकृत भूमि की कमी होती गई इस प्रकार खेती करना असम्भव हो गया। अब मनुष्य एक ही स्थान पर जम कर रहने लगा और उसी भूमि पर अनवरत खेती करने के लिए विवश हो गया किन्तु ऐसा करने से बहुत-सी समस्याए उठ खडी हुई। भूमि की उर्वरा शक्ति को कम न होने देना, पानी की कमी होने पर सिचाई का प्रबन्ध करना, तथा फसल के शत्रुओ से फसल की रक्षा करना इत्यादि। श्रम को बचाने के लिए वह खेती मे पशु-शक्ति का उपयोग करने लगा और खेती के लिए हल इत्यादि का आविष्कार किया गया। जैसे-जैसे मनुष्य को खेती का अधिकाधिक अनुभव होता गया और जनसख्या की वृद्धि होने तथा भूमि मे वृद्धि न हो सकने के कारण जैसे-जैसे बढती हुई जनसख्या के जीवन-यापन का भार भूमि पर बढता गया वैसे ही वैसे इस बात की आवश्यकता का अनुभव होने

लगा कि भूमि से अधिकाधिक उपज प्राप्त की जावे। इन दो कारणो से खेती की लगातार उन्नति होती गई।

जब मनुष्य ने पशुओं और पक्षियो को पालना आरम्भ किया और खेती करना आरम्भ की तो वह एक स्थान पर स्थायी रूप से रहने लगा। जो कबीले केवल पशुपालन ही करते थे वे तो चारे की खोज मे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते थे परन्तु जो खेती करते और उसके साथ ही पशुपालन करते थे उनके लिए यह नितान्त आवश्यक हो गया कि वे स्थायी रूप से एक स्थान पर बसें क्योंकि खेती के द्वारा उनका उस स्थान-विशेष से अटूट सबध हो गया। वे उस भूमि से बँध गए।

उस समय तक खेती का थोडा विकास हो चुका था। भूमि तो सीमित थी किन्तु जनसख्या में लगातार वृद्धि होती जा रही थी। अस्तु, भूमि मे अधिकाधिक उपज प्राप्त करने के लिए मनुष्य प्रयत्नशील था। फिर भी खेती प्रारम्भिक अवस्था में ही थी। गाव की सारी भूमि को दो या तीन बडे क्षेत्रो मे बाट लिया जाता था। यदि भूमि तीन हिस्सो में बटी रहती तो एक हिस्से को विश्राम करने के लिए छोड दिया जाता था और दो पर खेती की जाती। इस प्रकार तीन वर्षो मे एक बार भूमि को विश्राम मिल जाता था और यदि भूमि दो हिस्सो मे बटी होती तो एक वर्ष एक टुकडे पर खेती की जाती और दूसरे वर्ष दूसरे हिस्से पर खेती की जाती थी। अनुभव से यह ज्ञात हो गया था कि भूमि को विश्राम देने से उसकी उर्वरा शक्ति शीघ्र क्षीण नही होती है। परन्तु अभी तक सारी भूमि पर सब मिलकर खेती करते थे, भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के पृथक् खेत नही थे। अस्तु, खेत खुले होते थे, उनकी बाढे नही थी। गाव की पचायत ने आगे चल कर प्रत्येक व्यक्ति को भूमि का एक पृथक् टुकडा दिया और तब से पृथक् खेती आरम्भ हुई। अब मनुष्य अपनी फसल की रक्षा करने के लिए बाढ बनाने लगा और भूमि को खाद देने लगा तथा खेती की देखभाल करने लगा जिससे कि वह भूमि से अधिक उपज प्राप्त कर सके। खेती की सफलता के लिए तथा पशुओं की हिंसक पशुओ से रक्षा करने के लिए मनुष्य गाव बना कर रहने लगा। क्योंकि अब मनुष्य एक स्थान से बध गया और उसे यह ज्ञात हो गया कि उसकी आने वाली पीढिया भी वही रहने वाली हैं उसने अपने रहने के मकान अधिक स्थायी बनाने आरम्भ कर दिए और गावो का विकास होने लगा।

कुटीर धधों का उदय

जब मनुष्य समाज इस स्थिति मे आया तो कुटीर धधो का भी उदय हुआ। जब मनुष्य शिकारी अवस्था में था, उसका अधिकाश समय शिकार करने, वनो से कद-मूल और फल इकट्ठा करने अथवा मछली पकडने में ही चला जाता था। तब कही वह अपने लिए भोजन प्राप्त कर सकता था। उसकी अन्य आवश्यकताए बहुत कम थी। वह अपनी कमान और तीर स्वय बना लेता था, अस्थायी झोपडे या मचान खडे कर लेता था और खाल इत्यादि से अपने शरीर को ढकता था। परन्तु अब स्थिति बदल गई थी। मनुष्य एक स्थान पर स्थायी रूप से रहने लगा था, उसने स्थायी रूप से मकान बनाना प्रारम्भ कर दिया था। अस्तु, वह अधिक सामान अपने पास सुरक्षित रूप से रख सकता था। उसे अधिक सामान से घबराने की आवश्यकता नही थी क्योकि उसे अब घुमक्कड जीवन नही बिताना था। इसके साथ ही समाज मे श्रम-विभाजन का विकास हो चुका था, जिसके फलस्वरूप गाव के अधिकाश व्यक्ति खेती और पशुपालन करते थे किन्तु थोडे से व्यक्ति अन्य आवश्यक वस्तुओ का निर्माण करते थे। उदाहरण के लिए खेती के औजारो को बनाने तथा उनकी मरम्मत के लिए बढई, कपडा बुनने के लिए बुनकर, और लुहार इत्यादि का उदय हो चुका था।

यह कल्पना करना कठिन नही है कि इन कुटीर धधो का विकास किस प्रकार हुआ। आरम्भ मे प्रत्येक परिवार अपने लिए इन वस्तुओ का निर्माण भी करता था। पुरुष हल तथा अन्य औजार बनाते और उनकी मरम्मत करते थे, स्त्रिया सूत कातती और कपडा बुनती थी। परन्तु जैसे जैसे मनुष्य को भूमि से अधिकाधिक उपज प्राप्त करने की आवश्यकता का अनुभव होने लगा, वह भूमि पर दो फसले उत्पन्न करने लगा, भूमि पर खाद डालना, फसल की रखवाली करना, खेत में जो व्यर्थ के पौधे उत्पन्न हो जावें, उनको नष्ट करना और पशुओ की अधिक देखभाल करना उसके लिए आवश्यक हो गया। अतएव उसको अधिक अवकाश ही नही मिलता था कि वह घर पर बैठकर औजार बनावे, या वस्त्र तैयार करे। स्त्रियो का भी कार्य अब बढ गया था। पशुओ की घर पर देखभाल करना, घी, दूध, मक्खन तैयार करना;

अनाज को सँभाल कर रखना; घरो की सफाई करना और परिवार वालो के लिए भोजन तैयार करके खेतों पर पहुँचाना उनका दैनिक कार्य बन गया था। जब जुताई और बुवाई का समय आता और फसल को काटकर उसे गहाने का समय आता तो काम इतना होता कि परिवार के स्त्री, पुरुष, वृद्ध और बालक सभी को उसमें लगना पडता। अतएव स्त्रियो के पास भी अब पहले जैसा अवकाश नही रहा। एक ओर जहा खेती और पशुपालन के विकास के साथ अवकाश की कमी अनुभव होने लगी, दूसरी ओर कारीगरो के एक वर्ग का उदय हुआ।

बात यह थी कि गाव के कुछ लोग खेती के औजार दूसरो की अपेक्षा अधिक अच्छे बनाते थे, कुछ व्यक्ति कपडा अच्छा तैयार करते थे या लोहे की वस्तुएँ अच्छी बनाते थे। अन्य किसान देखते थे कि उनके हल तथा औजार अच्छे हैं, उनसे जुताई और अन्य क्रियाए उनके औजारो की अपेक्षा अधिक अच्छी होती है। अतएव प्रत्येक ग्रामवासी उनसे हल तथा औजार बनवाने लगा और उसके बदले उन्हे अनाज देने लगा। अब उन व्यक्तियो का मुख्य कार्य हल तथा औजार बनाना और उनकी मरम्मत करना हो गया और खेती उनके लिए गौण हो गई। वे अपना अधिक समय औजार बनाने मे लगाने लगे। क्रमश अभ्यास और अनुभव से उन्होने हल तथा औजार बनाने में अधिक उन्नति की और हल और औजार उत्तम बनाये जाने लगे। यही स्थिति वस्त्र के बुनने, लोहे की वस्तुए बनाने, जूता तथा अन्य चमडे का सामान बनाने के सम्बन्ध मे हुई। क्रमश कारीगर वर्ग का उदय हुआ। बात यह थी कि इन कारीगरो के बच्चे भी अपने पिता को काम करते देखते, उनकी सहायता करते और वे अनायास ही उस धधे की जानकारी प्राप्त कर लेते थे। उनके प्रशिक्षण के लिए किसी औद्योगिक विद्यालय की आवश्यकता नहीं होती थी। क्रमश इन कारीगरो की जातिया या सघ बन गए।

स्वावलम्बी ग्राम

आरम्भ मे व्यक्ति स्वावलम्बी था। एक परिवार अपनी आवश्यकता की सारी वस्तुए स्वय उपलब्ध कर लेता था। उस समय आवश्यकताए बहुत कम थी। वे केवल भोजन, वस्त्र तथा झ.पडी तक ही सीमित थी किन्तु

अब मनुष्य की आवश्यकताए बढ गई थी। कोई एक परिवार अपनी सारी आवश्यकताओ को पूरी नही कर सकता था। फिर भी व्यक्ति अपनी अधिकाश आवश्यकताओ को स्वय पूरी कर लेता था। परन्तु कतिपय आवश्यकताओ के लिए वह दूसरो पर निर्भर रहने लगा। उदाहरण के लिए कृषक बढई से औजार लेता, बुनकर से वस्त्र बनवाता, चमार से जूते तथा अन्य चमडे का सामान तैयार करवाता, और लुहार से लोहे की वस्तुए लेता था। कुम्हार से वह बर्तन लेता था और उनके बदले वह उन्हे अनाज देता था। इतना होने पर भी गाव स्वावलम्बी थे। प्रत्येक गाव मे यह कारीगर विद्यमान थे और इस प्रकार गाव अपनी अधिकाश आवश्यकताओ को गाव के अन्दर ही पूरी कर लेता था। एक गाव का अन्य गाव से व्यापार नही होता था। प्रत्येक गाव अपनी आवश्यकता की वस्तुओ को गाव मे ही उत्पन्न करता था।

व्यापार

उस समय अदल बदल की प्रणाली से वस्तुओ का विनिमय होता था। अनाज देकर अन्य वस्तुए ली जाती थी। कितना अनाज किस वस्तु या सेवा के लिए दिया जावेगा, यह गाव के नेता निर्धारित करदेते थे और यह परम्परागत नियम गाव मे प्रचलित रहता था। गाव का आर्थिक जीवन परम्पराओ और प्राचीन प्रचलित रूढियो पर आधारित होता था। वस्तुओ और सेवाओ का मूल्य भी एक प्रकार से परम्परा द्वारा निर्धारित होता था।

उस समय तक वाणिज्य और व्यवसाय का अधिक विस्तार नही था, वह स्थानीय था और गाव की सीमा मे सीमित था। कारण यह था कि यातायात और गमनागमन के साधन उपलब्ध नही थे। पशुओ की पीठ पर बैठकर मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकता था और पशुओ पर लाद कर ही सामान एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जा सकता था। पहियेदार गाडी का आविष्कार नही हुआ था, अतएव व्यापार और वाणिज्य का क्षेत्र अत्यत सकुचित था। मुख्यत वह गाव की सीमा के अन्तर्गत ही होता था।

जब कृषि का प्रादुर्भाव हुआ और मनुष्य समाज गाव बसाकर स्थायी रूप से रहने लगा, उस समय पारिवारिक स्वावलम्बन की अवस्था थी। प्रत्येक परिवार अपनी आवश्यकता की सारी वस्तुए उत्पन्न कर लेता था। उस समय आजकल की भाति परिवार छोटे-छोटे नही होते थे। तत्कालीन मानव समाज को परिवार नियोजन की आवश्यकता नही थी। इसके विपरीत परिवार मे जितने अधिक सदस्य होते थे, वह परिवार उतना ही अधिक समृद्धिशाली होता था क्योकि वह उतना ही अधिक उत्पादन कर सकता था। साथ ही कुछ सीमा तक उस परिवार में श्रम-विभाजन भी किया जा सकता था। उस समय कारीगर नही थे। आवश्यक वस्तुओ का निर्माण परिवार के सदस्य ही कर लेते थे। व्यापार का प्रारम्भ भी नहीं हुआ था।

कालान्तर में समाज मे श्रम-विभाजन का विकास हुआ, भिन्न-भिन्न उद्योग आरम्भ हुए। खेती और पशुपालन के अतिरिक्त कारीगर वर्ग का भी उदय हुआ। वह अवस्था ग्राम-स्वावलम्बन की थी। प्रत्येक ग्राम मे आवश्यक कारीगर रहते थे जो ग्रामवासियो के लिए आवश्यक वस्तुए तैयार करते थे। ग्राम स्वावलम्बन की दशा मे गाव में अदल-बदल के द्वारा वस्तुओ का विनिमय होता था। व्यापार का प्रारम्भ हुआ परन्तु वह गाव की सीमा के बाहर नही होता था। उस समय भी मनुष्य की आवश्यकताए बहुत कम थी अतएव उद्योग-धंधे तथा व्यापार गाव वालो की आवश्यकताओ के अनुरूप ही सरल थे। द्रव्य का आविर्भाव नही हुआ था और न कोई मध्यस्थ व्यापारी वर्ग ही उत्पन्न हुआ था।

अध्याय तीसरा

ग्राम संस्था, खेती तथा कुटीर-धंधों का विकास

जब मनुष्य ग्राम बनाकर खेती और पशु-पालन करने लगा और श्रम विभाजन का उदय होने के कारण कारीगर वर्ग का उदय हुआ, तो मनुष्य समाज एक ऐसी अवस्था में पहुँच गया कि अब उसका जीवन अधिक निश्चित और समृद्धिशाली बन गया था। उसको यह अनुभव होने लगा था कि आर्थिक समृद्धि को स्थायी बनाने के लिए सामाजिक तथा प्रशासनिक स्थायित्व भी आवश्यक है। तब तक राज्य संस्था का उदय हो चुका था, राजा अपने सामन्तों की सहायता से देश की विदेशी आक्रमणों से रक्षा करता था, और देश के अन्दर व्यवस्था रखता था। उस समय राजनैतिक दृष्टि से राजशाही और सामन्तशाही स्थापित थी, सामाजिक और आर्थिक जीवन का नियन्त्रण ग्राम पंचायतों, कारीगरों के संघों या जाति प्रथा द्वारा होता था। राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक संबंध प्राचीन परम्परा पर आधारित थे। उदाहरण के लिए सामन्त और उसके अधीनस्थ ग्रामों का संबंध क्या होगा, ग्राम उसको वार्षिक लगान क्या देंगे, उसके कार्य के लिए, उसकी भूमि पर खेती करने के लिए, कितने दिन बेगार करेंगे, उसे कौन कौन से कर देंगे, यह सब परम्परा द्वारा निश्चित था। कारीगरों के संघ या जातियां अपने वर्ग के सदस्यों के सामाजिक जीवन को नियंत्रित करने के साथ साथ उस धंधे के नियन्त्रण के लिए भी नियम बनाती थी। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड में क्रैफ्ट गिल्ड (कारीगरों का संघ) ने यह नियम बना रक्खा था कि कोई युवक यदि उस धंधे को करना चाहता है, तो उसे सात वर्ष तक उसकी प्रशिक्षा किसी कुशल कारीगर के पास लेनी होगी। उसे अपरेंन्टिस (शिक्षार्थी) कहा जाता था। सात

वर्ष तक शिक्षा प्राप्त कर लेने के उपरान्त वह जरनीमैन (मजदूर-कारीगर) बनता था और वह कुशल कारीगर के पास मजदूरी कर सकता था। जब मजदूर कारीगर वांछित कुशलता प्राप्त कर लेता था तो वह अपनी कारीगरी के प्रमाणस्वरूप स्वयं निर्मित वस्तु को संघ के पंचो के सामने प्रस्तुत करता था और यदि पंच यह अनुभव करते थे कि वह कुशल कारीगर बन गया है, तब वे उसको स्वतंत्र व्यापार करने की आज्ञा प्रदान करते थे और वह कुशल कारीगरो की श्रेणी मे आ जाता था। यही नही, कारीगर संघ यह भी निश्चित करता था कि कारीगर किस प्रकार की वस्तुएं बनायें, कैसा कच्चा माल काम में लावे, रात्रि मे कार्य न करे और परस्पर प्रतिस्पर्द्धा न करे तथा उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं का क्या मूल्य ले। कहने का तात्पर्य यह कि कारीगर संघ या जाति अपने सदस्यो के सामाजिक जीवन को तो व्यवस्थित और नियंत्रित करती ही थी, वरन् धंधे की भी व्यवस्था और नियंत्रण करती थी।

इसी प्रकार गाव की पंचायत ग्राम की व्यवस्था करती और गाव के हित के कार्यों का संचालन करती थी, ग्रामवासियो के झगड़ो को निबटाती, मंदिर, पीने के लिए जल की व्यवस्था करती गाव में निराश्रित, अपंग तथा विधवाओं की सँभाल करती और शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध करती तथा राज्य या सामन्त से संबंध रखती तथा गाव का प्रतिनिधित्व करती और गाव के स्वार्थों की रक्षा करती थी।

यह ग्राम संस्थाये तथा कारीगर संघ केवल भारत मे ही उदय हुए हो, ऐसी बात नही थी। संसार के प्रत्येक देश में इनका विकास हुआ। यद्यपि वे भिन्न भिन्न देशो में भिन्न-भिन्न नामो से संबोधित होते थे। ब्रिटेन का 'मैनर', जरमनी का 'मार्क', रूस का 'मिर', भारतीय ग्राम की ही भांति एक आर्थिक इकाई थे।

अब हम इन ग्राम संस्थाओं के आर्थिक जीवन का संक्षेप में दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न करेंगे। आज ग्राम संस्था आर्थिक परिवर्तनों के कारण सर्वथा बदल गई है, और इस कारण साधारण व्यक्ति प्राचीन ग्राम संस्था के चित्र की कल्पना नहीं कर पाता है। परन्तु एक समय था जबकि ग्राम संस्था अत्यंत

सजीव और सबल आर्थिक इकाई के रूप मे कार्य करती थी। आइये, हम कुछ शताब्दियो के पूर्व के चित्र को देखने का प्रयत्न करें।

प्राचीन ग्राम सस्था

पुराने समय मे ग्राम आर्थिक दृष्टि से नितान्त स्वावलम्बी थे। जो भी दैनिक आवश्यकता की वस्तुए थी, वे बहुत कुछ अशो मे गावो मे ही प्राप्त हो जाती थी, बाहर से उनको लेना नही पडता था। गाव के बाहर से, यहा तक कि पडोस के गाव से भी कोई व्यापार नही होता था। बाहर से केवल विलासिता की वस्तुए, उदाहरण के लिए आभूषण तथा अन्य मूल्यवान वस्तुए ही आती थी। वे धधे कि जिनकी गाव की दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए आवश्यकता थी, गावो मे ही स्थापित थे। जिन कारीगरो और सेवको की गाव को आवश्यकता थी, वे गाव मे ही विद्यमान थे। गाव पूर्ण रूप से स्वावलम्बी था।

गावो की दूसरी विशेषता उनकी पृथकता थी जो उनके आर्थिक स्वावलम्बन से मिलती-जुलती और बहुत कुछ उसका ही परिणाम थी। गावो पर बाहरी परिवर्तनो का प्रभाव नही पडता था। यदि देश के राजनीतिक जीवन में कोई भारी उलट-फेर होता तो भी गाव का आर्थिक ढाचा पूर्ववत् बना रहता, उसमे कोई परिवर्तन नही होता था। एक प्रकार से गाव राजनीतिक परिवर्तनो से अछूता रहता था।

गावो के स्वावलम्बन तथा पृथकता का मुख्य कारण यह था कि उस समय गमनागमन, यातायात तथा सदेशवाहक साधनो का सर्वथा अभाव था, उनकी उन्नति नही हुई थी। गमनागमन के साधनो के अभाव के दो महत्त्वपूर्ण आर्थिक परिणाम हुए। पहला परिणाम तो यह हुआ कि भिन्न स्थानो में वस्तुओ के मूल्यो मे बहुत भिन्नता रहती थी और दूसरा भयकर परिणाम यह होता था कि यदि कही दुर्भिक्ष इत्यादि पड जाता तो उस स्थान के निवासियो को विपत्ति का सामना करना पडता था।

व्यापार का अभाव

यह तो हम पहले ही लिख चुके है कि प्राचीन काल में यातायात तथा गमनागमन के साधनो का सर्वथा अभाव था। गमनागमन तथा यातायात का एकमात्र साधन पशु था। आज भी पर्वतीय प्रदेशो मे पशु ही एकमात्र गमनागमन तथा यातायात का साधन है। अतएव वाणिज्य और व्यापार बहुत सीमित था तथा बहुमूल्य वस्तुओ का ही व्यापार होता था। साधारण वस्तुए दूर तक नही ले जाई जा सकती थी क्योकि उनको ले जाने का व्यय बहुत अधिक होता था। क्रमश पहियेदार गाडी का आविष्कार हुआ और गमनागमन तथा यातायात की सुविधा मे वृद्धि हुई। उधर नदिया भी गमनागमन और यातायात का एक प्रमुख साधन बन गई। सच तो यह है कि प्राचीन काल में नदिया ही महत्वपूर्ण मार्ग थे। इन नदियो के मार्ग से ही व्यापार का प्रवाह बहता था। यही कारण है कि प्राचीन काल तथा मध्य युग मे नदिया व्यापार की मुख्य साधन रही।

नदियो का महत्व

यदि हम ससार के मानचित्र पर दृष्टि डालें तो एक बात स्पष्ट हो जावेगी। ससार के जितने भी प्राचीन मुख्य व्यापारिक केन्द्र हैं, वे सभी नदियो के किनारे बसे हुए है। उत्तरी भारत के नगरो को ले लीजिये। देहली, आगरा, प्रयाग, कानपुर, लखनऊ, काशी, पटना, कलकत्ता, मथुरा, सभी नदियो के किनारे है। इसी प्रकार इगलैण्ड के मुख्य नगर तथा जरमनी, फ्रास तथा यूरोप के अन्य देशो के मुख्य प्राचीन व्यापारिक केन्द्र नदियो के किनारे स्थित है। चीन मे यागटिसी, हागृहो, सीकियाग के किनारे व्यापारिक केन्द्र स्थित है। केवल व्यापारिक नगरो को जन्म देने का ही श्रेय नदियो को नही है, वरन् बहुत-से देशो में तो उस देश की सारी सभ्यता सस्कृति, आर्थिक समृद्धि ही नदियो से प्रभावित रही है। प्राचीन और वर्तमान मिश्र नील नदी की देन है। ईराक, यूफ्रेटीज, और टायग्रीज नदियो के कारण ही ईराक सभ्य और सुसंस्कृत हुआ और आर्थिक दृष्टि से समृद्धिशाली बना। उत्तर भारत

सिन्धु, गगा तथा ब्रह्मपुत्र नदियो तथा उनकी सहायक नदियो के कारण ही प्राचीन काल मे इतना महत्त्व प्राप्त कर सका। प्राचीन तथा मध्य युग मे नदियो ने मानव जाति के आर्थिक विकास में जो योग दिया, वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण था, और आज भी नदिया जलमार्ग; सिचाई, तथा जल विद्युत की सुविधाये प्रदान कर मानव जाति की समृद्धि का मार्ग प्रशस्त कर रही हैं। यही कारण है कि बहुत-से देशो मे नदियो को पवित्र माना जाता है और कोटि-कोटि व्यक्ति उनको श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते हैं।

कृषि का विकास

क्रमश खेती का विकास होने लगा। जनसख्या की वृद्धि के कारण भूमि से अधिक से अधिक उपज प्राप्त करने की आवश्यकता अनुभव हुई। अब भूमि को केवल थोडे समय तक विश्राम देने से ही उसकी उर्वरा शक्ति को अक्षुण्ण बनाये नही रखा जा सकता था। अब तक अनुभव से ज्ञात हो चुका था कि खाद देने से भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि की जा सकती है, अतएव भूमि को खाद दिया जाने लगा। उस समय तक सामूहिक खेती के स्थान पर व्यक्तिगत खेती का प्रचलन हो चुका था और भूमि पर व्यक्तियो का स्वामित्व स्थापित हो चुका था। यह लोग अधिकाश में भू-स्वामी सामन्त थे जिन को राजा की ओर से गाव जागीर मे दे दिए जाते थे। यह भू-स्वामी कुछ शर्तो पर भूमि को किसानो को दे देते थे। अस्तु, व्यक्तिगत खेती का प्रादुर्भाव हुआ और प्रत्येक कृषक अपने खेत की बाढ बना कर उसमे खेती करने लगा। बाढ बनाने से फसल की पशुओ से रक्षा की जा सकती थी और किसान अपने खेत पर अधिक गहरी खेती कर सकता था। अच्छा बीज डाल कर, भूमि को खाद देकर, उस पर अधिक परिश्रम करके तथा सिंचाई इत्यादि के साधन उपलब्ध करके वह भूमि से अधिक उपज प्राप्त करने लगा।

उस समय तक राज सस्था का पूर्ण विकास हो चुका था अतएव नगरो की स्थापना हो चुकी थी। जिस स्थान पर राजा रहता था वहा राजकर्म-

चारी तथा सामन्तों की भीड एकत्रित हो जाती थी और वहा की जन-सख्या बहुत अधिक बढ जाती थी। यह राजधानिया बडे नगर बन जाते थे। इसी प्रकार प्रान्तीय सूबेदारो तथा अधीनस्थ सामन्तो के निवास-स्थान के समीप भी एक केन्द्र स्थापित हो जाता था। तीर्थ स्थान तथा व्यापारिक मडियो का भी उस समय तक उदय हो चुका था। अस्तु, वह स्थान भी जनसख्या से परिपूर्ण नगर बन गए थे।

इन नगरो के लिए खाद्य पदार्थ चाहिए थे। वे स्वय तो अपने लिए अनाज उत्पन्न नही करते थे अतएव गावो को उनके लिए अन्न उत्पन्न करना पडता था। गावो से अनाज नगरो के निवासियो के लिए जाता था अतएव खेती की पैदावार का व्यापार आरम्भ हुआ।

उधर पहियेदार गाडियो तथा जलमार्ग द्वारा थोडा व्यापार आरम्भ हो गया था। गावो के बीच मे व्यापारिक मडिया स्थापित हो चुकी थी जहा साप्ताहिक पैठ लगती थी। कही-कही तीर्थ स्थान होने के कारण मेले और उत्सव होते थे और वहा बहुत बडे क्षेत्र से वस्तुए आकर बिकती थी। नदियो के किनारे तथा जहा एक नदी दूसरी नदी से मिलती थी वहा बडे व्यापारिक केन्द्र स्थापित हो चुके थे। परन्तु जो प्रदेश पहाडी थे अथवा जहा गमनागमन के साधन उपलब्ध नही थे वहा स्थिति पूर्ववत् ही थी।

इतना सब कुछ होने पर भी गाव अधिकाश मे स्वावलम्बी थे। विला-सिता की बहुमूल्य वस्तुओ, लोहे की वस्तुओ, नमक इत्यादि वस्तुओ को छोडकर गाव अपनी सारी आवश्यकताओ को स्वय पूरा कर लेता था। यहा हम भारत के ग्राम का चित्र देगे जिससे यह स्पष्ट हो जावेगा कि गाव का आर्थिक संगठन किस प्रकार का था।

तो, भारतीय ग्राम बहुत कुछ स्वावलम्बी थे क्योकि गमनागमन तथा यातायात के साधनो के अभाव मे वे अन्य ग्रामो या केन्द्रो से पृथक् थे। इस दृष्टि से उत्तर भारत की स्थिति दक्षिण भारत से अच्छी थी। उत्तर-भारत मे गगा तथा सिंधु और उनकी सहायक नदियो ने प्राकृतिक मार्ग उपलब्ध कर दिए थे और मैदानो मे कुछ सड़के भी बनाई गई। यद्यपि

उत्तम सड़के भी बैलगाडियो के लिए बहुत उपयुक्त नही थी परन्तु फिर भी बैलगाडिया उन पर चल सकती थी।

हमारे ग्राम्य आर्थिक सगठन की दूसरी विशेषता यह थी कि खेती ही देश का महत्त्वपूर्ण और मुख्य धधा था। अन्य धधो का कृषि की तुलना में महत्त्व कम था। सच तो यह था कि जो केवल खेती पर ही अपनी जीविका उपार्जन के लिए निर्भर थे, उनके अतिरिक्त जो कुटीर धधो तथा अन्य पेशो मे लगे हुए थे वे भी थोडी बहुत गौण रूप से खेती करते थे। कृषक छोटे-छोटे खेतो पर खेती करते थे, उनके हल तथा औजार पुराने होते थे और खेती का ढग भी पुराना था। अधिकतर स्वावलम्बी खेती की जाती थी, किसान अपनी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए अनाज उत्पन्न करता था और अपनी आवश्यकता से जो अनाज अधिक होता वह राज्य-कर के रूप मे अपने भू-स्वामी को लगान के रूप मे दे देता था या फिर उसको बेच देता था।

यद्यपि भारत के ग्रामो मे निवास करने वाले अधिकाश व्यक्ति खेती करते थे, किन्तु इससे यह न मान लेना चाहिए कि उद्योग-धधो तथा औद्योगिक जनसख्या का प्राचीन ग्राम्य आर्थिक सगठन मे कोई स्थान नही था। सच तो यह था कि प्रत्येक ग्राम में एक कारीगर वर्ग रहता था। प्रत्येक ग्राम मे एक बढई, लुहार, चमार, बुनकर, कुम्हार, तेली, रगरेज, इत्यादि रहता था। इनमें से कुछ कारीगर तो गाव के सेवको की श्रेणी मे थे और कुछ स्वतन्त्र कारीगर थे। सेवको की श्रेणी में वे कारीगर थे जिनकी सेवाओ की गाव वालो को नियमित रूप से आवश्यकता होती थी। उदाहरण के लिए बढई, लुहार, चमार, कुम्हार आदि। दूसरी श्रेणी मे बुनकर, तेली और रगरेज थे जिनकी सेवाओ की कभी-कभी आवश्यकता होती थी। सेवक कारीगरो को गाव बिना लगान के अथवा नाम मात्र का लगान लेकर भूमि देता था जिस पर यह लोग खेती करते थे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक किसान उन्हें अपनी खेती की पैदावार का एक निश्चित अश देता था। स्वतत्र कारीगरो से जो भी काम लिया जाता था उसके लिए अलग से

मजदूरी दी जाती थी। परन्तु मजदूरी बहुधा अनाज के रूप में ही दी जाती थी। गाव के कारीगर का उत्तराधिकारी ही उस गाव का कारीगर होता था। वह वश परम्परागत गाव की सेवा करता था। अतएव गाव का समस्त जीवन एक-सा रहता था, उसमे कोई विशेष परिवर्तन नही होता था और न गाव में प्रतिस्पर्द्धा ही दृष्टिगोचर होती थी। इस प्रकार के सगठन के कारण ग्राम्य उद्योग-धधो का एक विशेष स्वरूप बन गया था। प्रत्येक कारीगर को अपने धधे का सारा कार्य स्वय ही करना पडता था। अस्तु, वह अपने धधे में तनिक भी श्रम विभाजन को स्थान न दे सका और न वह किसी प्रकार की विशेषता ही प्राप्त कर सका। इसका परिणाम यह हुआ कि ग्राम्य उद्योग-धधो मे श्रम-विभाजन तथा विशेषीकरण को कोई स्थान न रहा और कारीगर की कुशलता ऊचे स्तर की न बन सकी। इसके अतिरिक्त गावो के स्वावलम्बी होने के कारण ग्राम्य उद्योग धधो का स्थानीयकरण भी न हो सका। इसका परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण उद्योग-धंधे पिछडी दशा में रहे।

प्रत्येक ग्राम मे एक पचायत होती थी जो सस्ता और शीघ्र न्याय दे देती थी और गाव वालो को एक सूत्र मे बाध कर उसकी सुन्दर व्यवस्था करती थी। प्रत्येक गाव मे कुछ सेवक होते थे। उनमे पुरोहित, ज्योतिषी, धोबी, नाई, दाई, माली, भगी इत्यादि मुख्य थे। यह कारीगरो की ही भाति गाव के सेवक होते थे जिन्हे फसल पर अनाज की एक निश्चित राशि दी जाती थी और उन्हें थोडी भूमि खेती के लिए दी जाती थी। प्रत्येक गाव का एक महाजन होता था जो लेन-देन का काम करता था और खेती की पैदावार का क्रय-विक्रय भी करता था। गाव मे तीन मुख्य कर्मचारी होते थे। पटेल या मुखिया जो रैयतवारी गावो में मालगुजारी वसूल करने के लिए तथा शाति और व्यवस्था करने के लिए होता था। उसे इस सेवा के लिए कुछ भूमि बिना लगान जोतने के लिए मिलती थी। गाव का पटवारी जो वहा के भूमि के स्वामित्व का लेखा रखता था। तीसरा कर्मचारी चौकीदार होता था जो पुलिस को सूचना देता था। जो गाव जागीरदारो अथवा

जमीदारों के होते थे वहा उनके कारिन्दे लगान वसूल करते थे। ऊपर लिखे हुए विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि गाव सब प्रकार से स्वावलम्बी था ।

प्राचीन काल मे भारतीय गावो मे द्रव्य का चलन नहीं था । उस समय अदल-बदल के द्वारा विनिमय होता था और अनाज मे ही मूल्य का नाप किया जाता था । उस समय मनुष्य की आवश्यकताए बहुत सीमित थी। व्यापार बहुत कम था। अस्तु, विनिमय के लिए द्रव्य की आवश्यकता नही थी । मालगुजारी भी पैदावार के रूप मे चुकाई जाती थी। गाव वाले अपने पैतृक ग्रह को छोड कर कभी कही जाने की कल्पना भी नहीं करते थे । प्रतिस्पर्द्धा तथा स्वतन्त्रता के स्थान पर परम्परा तथा सामाजिक पद मनुष्य की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति को निर्धारित करते थे । जाति प्रथा तथा सम्मिलित कुटुम्ब प्रणाली के कारण व्यक्ति अपना पेशा चुनने मे स्वतन्त्र नही था । अस्तु, भारतवर्ष मे पुराने समय मे लगान, मजदूरी तथा मूल्य रीति और परम्परा से निर्धारित होते थे ।

अभी तक हमने भारतवर्ष के ग्राम्य अर्थशास्त्र का अध्ययन किया। अब हम उस समय के नगरो की आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन करेंगे । उस समय बडे नगर वे ही होते थ जो केन्द्रीय सरकार अथवा प्रान्तीय सरकार की राजधानी होते थे, उदाहरण के लिए देहली, आगरा इत्यादि राजधानिया होने के कारण ही बडे नगर बन गए । राजधानी के अतिरिक्त धार्मिक केन्द्र भी बडे नगर बन जाते थे । काशी, प्रयाग, मथुरा, पुरी, गया धार्मिक स्थान होने के कारण ही बडे नगर बने । कतिपय व्यापारिक केन्द्र, जो नदियों तथा सडकों के मिलन-स्थान पर होते, बडे नगर बन जाते थे । प्रत्येक बडे नगर मे उद्योग धधे केन्द्रित हो जाते थे। धार्मिक केन्द्रो मे तावे, कासे और पीतल के बर्तन, पूजा के पात्र, मूर्त्तियो को बनाने, मदिरो के घटे इत्यादि बनाने के धधे केन्द्रित थे। राजधानियो में विलासिता की वस्तुए अधिक बनाई जाती थी । उदाहरण के लिए देहली, लखनऊ, आगरा मे तारकशी का काम, कीमती कपडा, जरी का काम, सोने चादी का काम, जडाऊ आभूषण बनाने का काम, हाथीदात की वस्तुए बनाने, लकडी पर नक्काशी

का काम, इत्र तथा तेल बनाने का धधा, तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुएं बनाने का धधा केन्द्रित था। भारत प्राचीन काल मे इन कलात्मक तथा कारीगरी की वस्तुओ के लिए समार भर में प्रसिद्ध था। भारत की कला और कारीगरी आश्चर्यजनक और अभूतपूर्व थी। कला और कारीगरी की उस सफलता का मुख्य कारण यह था कि वादशाहो का इन कलाकारो तथा कारीगरो को संरक्षण प्राप्त था। ढाका की मलमल, मुर्शिदावाद का रेशमी कपड़ा तथा काश्मीर के शाल ससार-प्रसिद्ध थे।

नगर गावो की भाति आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्वी नही थे और न वे अन्य केन्द्रो से पृथक् ही थे। नगरो में समीपवर्ती गावो से अनाज आता था और नगरो मे बहुत प्रकार के पेशे और धधे दृष्टिगोचर होते थे। उन धधो का सगठन सवल और उत्तम होना था। नगरो मे प्रत्येक धधे का एक सघ होना था जो कि अपने सदस्यो के हितो तथा उनकी कारीगरी की दक्षता की देखभाल करता था। कारीगर अपने ग्राहको की माग पर उनके दिए हुए कच्चे माल के द्वारा वस्तुओ का निर्माण करते थे। कच्चे माल के कारण अथवा अन्य कारणो से कुछ नगरो मे धधो का स्थानीयकरण हो गया था। फिर भी अधिकतर स्थानीय माग पर ही धधे जीवित रहते थे। कुछ को छोड कर वाहर की माग नही के वरावर होती थी। नगरो मे साख का समुचित प्रवन्ध था। प्रत्येक नगर मे साहूकार होते थे। और क्रय-विक्रय में नकदी का वहुत चलन था। वडे नगरो में व्यापार वहुत होता था। व्यापारियो के भी सघ थे जो व्यापारियो के हितो की रक्षा करते थे और व्यापार का सचालन करते थे। भारतीय नगरो का विदेशो से भी व्यापार होता था। भारतीय नगर अत्यन्त समृद्धिशाली थे।

ऊपर हमने भारत के गावो तथा नगरो की आर्थिक स्थिति का सक्षेप में दिग्दर्शन कराया है। लगभग यही स्थिति संसार के अन्य सभ्य देशो की भी थी। चीन, जापान, ब्रिटेन तथा योरोप के अन्य देशो में भी खेती, उद्योग-धधो तथा व्यापार की दशा लगभग ऐसी ही थी। केवल स्थानीय परिस्थितियो के कारण वाह्य रूप में थोड़ा-वहुत अन्तर दिखलाई पडता था

परन्तु मूलत ग्राम तथा नगर सस्थायें लगभग सभी देशो में एक-सी थी।

इङ्गलैड का 'मैनर'

इगलैड में ग्राम सस्था को 'मैनर' कहते थे। हम यहा उसका सक्षिप्त विवरण देंगे जिससे यह स्पष्ट हो जावेगा कि मूलत ग्राम्य आर्थिक सगठन प्राचीन तथा मध्य युग में सभी देशो मे प्राय एक समान था।

मैनर में कुछ भूमि भू-स्वामी (लार्ड) की होती थी जो कि भारत के जागीरदार अथवा जमीदार की 'सीर' के समान ही थी। इस भूमि पर भू-स्वामी का कामदार या कारिदा (बेलिफ) किसानो से बेगार लेकर खेती करवाता था। शेष भूमि किसानो मे बटी रहती थी। वे अपनी भूमि पर खेती करते थे और परम्परा तथा रीति के अनुसार भू-स्वामी के खेत पर नियमित रूप से काम करते थे। जगल तथा चरागाह पर किसी का स्वामित्व नही था। प्रत्येक व्यक्ति उसमे अपने पशुओ को चरा सकता था तथा अपनी आवश्यकता के लिए लकडी ला सकता था। 'मैनर' में मुख्यत तीन प्रकार के किसान होते थे। प्रथम श्रेणी मे वे किसान होते थे जो कि 'स्वतत्र' होते थे। वे भू-स्वामी (लार्ड) को निर्धारित लगान नकदी अथवा अनाज के रूप मे देते थे। वे भू-स्वामी के खेत पर बेगार मे काम नही करते थे और जिन्हें अपनी पुत्री का विवाह करने पर कोई जुर्माना भू-स्वामी को नही देना पडता था तथा जो अन्य लोग-बेगार नही देते थे। परन्तु 'स्वतत्र' किसानो को भी फसल काटने के समय तथा अन्य विशेष अवसरो पर भू-स्वामी की सेवा करनी पडती थी। स्वतत्र किसानो के अतिरिक्त और दूसरे नीची श्रेणी के किसान थे। उन किसानो को जो भूमि जोतने को मिलती थी उसके बदले उन्हे भू-स्वामी की भूमि पर उसके कामदार के आदेशानुसार प्रति सप्ताह नियमित रूप से साप्ताहिक कार्य करना पडता था। कुछ किसानो को तो सप्ताह में तीन-चार दिन कार्य करना पडता था। उनको अधिक भूमि मिलती थी। जो किसान कि भू-स्वामी की भूमि पर सप्ताह मे एक या दो दिन कार्य करते थे उन्हे जोतने के लिए कम भूमि दी

जाती थी । सक्षेप में लगान उपज या नकदी में न दी जाकर साप्ताहिक श्रम के रूप में दी जाती थी । इसके अतिरिक्त फसल कटने के समय तथा अन्य अवसरो पर किसान को विशेष कार्य करना पडता था । यदि किसान अपनी पुत्री का विवाह करता था तो उसको भू-स्वामी को कर देना पडता था । यदि किसान अपने पुत्र को गाव के बाहर भेजता और वहा उसको कोई काम-धधा करवाता तो उसे भू-स्वामी को क्षतिपूर्ति के रूप में दड देना पडता था । प्रत्येक किसान को भू-स्वामी की बेकरी से अपने लिए रोटी बनवानी पडती और उसकी मदिरा बनाने की भट्टी से मदिरा लेनी पडती ।

कालान्तर मे श्रम-सेवा नकदी मे परिणत कर दी गई और किसान श्रम के बदले नक्द द्रव्य देकर साप्ताहिक श्रम से मुक्त हो जाते थे । उस समय अधिक्तर ग्राम स्वावलम्बी था। आवश्यकता की अधिकाश वस्तुएं गाव मे ही उत्पन्न होती थी । गमनागमन तथा यातायात के साधनो के अभाव मे व्यापार बहुत सीमित होता था । बाहर से केवल लोहा, नमक तथा बहुमूल्य वस्तुए आती थी । गाव में आवश्यक कारीगर रहते थे जो गाव वालो की आवश्यकताओ को पूरा करते थे ।

नगरों मे उद्योग तथा व्यापार

इगलैंड मे नगर धार्मिक तथा राजनैतिक कारणो से वैभवशाली बने और उनका महत्त्व बढा । अधिकाश नगर या तो राजनीतिक कारणो से अथवा धार्मिक कारण से स्थापित हुए । राजधानी मे सामन्तो तथा राज्य-कर्मचारियो के कारण तथा धार्मिक स्थानो में गिरजो के कारण बहुत बडी सख्या निवास करती थी अतएव यह स्वाभाविक था कि वहा उद्योग-धंधो और व्यापार का विकास हो । कोई-कोई नगर व्यापारिक केन्द्र होने के कारण भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गए थे । बहुधा वे दो सड़को के मिलन-स्थान अथवा बन्दरगाहो पर स्थित थे ।

प्रत्येक 'मैनर' (ग्राम) राजा को अथवा बड़े-बडे गिरजों को या अपने

लार्ड को अपनी पैदावार का एक भाग किसी न किसी रूप मे देता था। यह लोग नगरो में रहते थे। इस प्रकार जो धन नगरो की ओर आता था उससे सैनिको, पादरियो, भिक्षुओ तथा सेवको को बहुत बडी सख्या मे रक्खा जाता था। इस प्रकार नगरो मे बहुत बडी जनसख्या एकत्रित हो जाती और उनके ऊपर जो व्यय होता उसके फलस्वरूप वहा व्यापार तथा उद्योग का विकास होना स्वाभाविक ही था।

व्यापारी संघ—प्रत्येक नगर मे एक व्यापारी सघ होता था जो उस नगर के व्यापार का नियत्रण करता था। कोई भी बाहरी व्यापारी नगर मे आकर केवल सघ के सदस्यो से ही कारवार कर सकता था। सघ अपने सदस्यो का ऋण अन्य नगरो के व्यापारी सघ के सदस्यो को चुकाने के लिए उत्तरदायी होता था। इसी प्रकार प्रत्येक सघ अपने सदस्यो का रुपया जो अन्य किसी नगर के व्यापारी से लेना हो उस नगर के व्यापारी सघ से वसूल करता था। व्यापारी सघ अपने सदस्यो के हितो की रक्षा करता था। उनमे परस्पर प्रतिस्पर्द्धा नही होने देता था। एक प्रकार से उस नगर के व्यापार का एकाधिकार उसके पास रहता था।

कारीगर संघ—प्रत्येक नगर मे प्रत्येक धधे के लिए कारीगर सघ होते थे। कारीगर सघ अपने सदस्यो के हितो की रक्षा करते थे। धधे का प्रशिक्षण किस प्रकार हो इसकी व्यवस्था करते थे। यह हम पहले ही लिख चुके है कि प्रत्येक शिक्षार्थी (अपरेंटिस) सात वर्ष तक किसी कुशल कारीगर के पास रह कर उस धधे की शिक्षा प्राप्त करता था। सात वर्षों के उपरान्त वह मजदूर कारीगर (जरनीमैन) बनता था और कुशल कारीगरो के यहा मजदूरी पर कार्य करता था। कालान्तर मे जब उसको पर्याप्त कुशलता प्राप्त हो जाती थी तब वह अपनी कारीगरी के प्रमाणस्वरूप कोई कारीगरी की वस्तु सघ के पचो के सामने उपस्थित करता। यदि पचायत उस वस्तु का निरीक्षण करके यह निर्णय देती कि मजदूर कारीगर ने धधे में पर्याप्त दक्षता प्राप्त कर ली है तो उसे कुशल कारीगर घोषित कर दिया जाता। कुशल कारीगर घोषित हो जाने पर ही कोई मजदूर कारीगर

स्वतंत्र रूप से अपना कारबार कर सकता था और उसी दशा मे वह कारीगर सघ का सदस्य बनाया जाता था। सघ कार्य करने का समय क्या हो, किस प्रकार के कच्चे माल को व्यवहार मे लाया जावे, वस्तु कैसी बनाई जावे इन सब बातो का निर्णय करते थे।

कुशल कारीगर स्थानीय ग्राहको की माग पर वस्तुओ का निर्माण करते थे किन्तु बाहर ले जाकर अपना माल नही बेच सकते थे। यदि वे स्थानीय आवश्यकता से अधिक माल तैयार करते थे तो उन्हे वह व्यापारी सघों के सदस्यो को बेचना पडता था। यह व्यापारी सघ के सदस्य गावो तथा नगरो के कारीगरो के पास जो अधिक माल तैयार होता था उसको खरीद लेते थे और मेलो मे, पैंठो मे तथा उन नगरों में जहा कि उस वस्तु की अधिक माग होती थी बेचते थे।

इस प्रकार देश के अन्दर धधो का विशेषीकरण हो गया था और कारीगरी की वस्तुओ की माग बडे-बडे नगरो मे होने लगी थी। प्रत्येक देश में धार्मिक पर्वो पर अथवा धार्मिक स्थानो पर बडे बडे मेले लगते थे जिनमें देश भर के कारीगरो की कारीगरी की वस्तुए व्यापारी लाकर बेचते थे। जहा राजधानिया थी वहा राजा तथा उनके सामन्तो को बेचने के लिए व्यापारी बढ़िया कारीगरी की वस्तुए लाते थे। इस प्रकार क्रमश व्यापार की वृद्धि हो रही थी। फिर भी गमनागमन तथा यातायात के साधनो के अभाव मे केवल मूल्यवान कारीगरी की वस्तुओ का ही व्यापार होना था। साधारण वस्तुओ का व्यापार अत्यन्त सीमित क्षेत्र में ही होता था।

अध्याय चौथा

भारत की आर्थिक सम्पन्नता

प्राचीन काल तथा मध्य युग में भारतवर्ष अपने कुशल कारीगरोकी कारीगरी के लिए और आर्थिक समृद्धि के लिए प्रसिद्ध था। सच तो यह था कि वह ससार मे आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्धिशाली राष्ट्र था। उसके माल की प्रत्येक देश मे माग थी और भारत से व्यापार करना ही उस समय धन कमाने का एक मात्र साधन समझा जाता था।

आज के कल और कारखानो के युग मे ,औद्योगिक दृष्टि से भारत एक पिछडा राष्ट्र माना जाता है। यद्यपि स्वतत्र हो जाने के उपरान्त भारत आश्चर्यजनक गति से औद्योगीकरण कर रहा है फिर भी स्वतत्र होने के पूर्व तक वह अपेक्षाकृत औद्योगिक दृष्टि से एक पिछडा राष्ट्र माना जाता था। परन्तु जैसा हम ऊपर लिख चुके है कि प्राचीन काल मे वह एक अत्यन्त समृद्धिशाली और औद्योगिक राष्ट्र था। आज भारत मे खेती का अत्यधिक महत्व होने के कारण तथा हमारे आर्थिक सगठन पर उसका अत्यधिक प्रभाव होने के कारण कोई कल्पना भी नही कर सकता कि पूर्व समय में भारत औद्योगिक दृष्टि से ससार मे एक अत्यन्त उन्नत राष्ट्र था। परन्तु १९१६ के औद्योगिक आयोग की रिपोर्ट से लिया गया अश इस सम्बन्ध में वस्तु-स्थिति पर समुचित प्रकाश डालता है। "उस समय, जबकि पश्चिमी योरोप मे जो कि आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का जन्म-स्थान है, असभ्य और अर्द्ध-सभ्य लोग निवास करते थे, भारत अपने राजाओ, नवाबो की अतुलनीय सम्पत्ति, सर्वसाधारण की समृद्धि और अपने कारी-गरो के कौशल के लिए विख्यात था और उसके बहुत समय बाद भी जबकि पश्चिमीय राष्ट्रो के व्यापारी पहले-पहल यहा आये, यह देश औद्योगिक विकास की दृष्टि से पश्चिम के जो अधिक उन्नत राष्ट्र है उनसे यदि आगे

बढा हुआ नही तो किसी प्रकार कम तो नही था ।"

अत्यन्त प्राचीनकाल से भारतवर्ष अपने विभिन्न प्रकार के कला-कौशल, और बहुमूल्य कारीगरी की वस्तुओं के लिए ससार भर मे प्रसिद्ध था। प्रतिवर्ष बहुत बडी राशि मे बहुमूल्य सुन्दर, ऊनी, सूती और रेशमी वस्त्र, धातु का सामान, जवाहरात के आपभूण, इत्र, सुगन्धित तेल, हाथीदात की बनी सुन्दर वस्तुए, जरी और कसीदे के वस्त्र, कमख्वाब, लकडी पर सुन्दर खुदाई का काम, छुरिया, तलवार, सोने-चादी की बनी सुन्दर वस्तुएं विदेशो को जाती थी। प्रत्येक सभ्रान्त व्यक्ति भारत की बनी हुई वस्तुओं का व्यवहार कर गौरव अनुभव करता था। ससार के प्रत्येक देश मे, राज-दरबारो मे भारतीय वस्तुओ का प्रचलन था और उनका व्यवहार वैभव और सुरुचि का प्रतीक समझा जाता था।

भारत मे वस्त्र व्यवसाय उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच चुका था। सूत इतना बारीक काता जाता था कि उसको बिना दूरबीन के आँख से देखा नही जा सकता था। वस्त्र व्यवसाय की उन्नति का केवल यही एक मात्र कारण नही था कि बहुत बारीक और सुन्दर टिकाऊ कपडा भारत के बुनकर तैयार करते थे वरन् उसका कारण यह भी था कि यहा भिन्न-भिन्न रगो का समन्वय करने, रगाई और छपाई की कला बहुत उन्नति कर गई थी। पृथ्वी के सभी देशो मे रनिवासो तथा समृद्धिशाली परिवारो की महिलाए भारतीय वस्त्र के लिए लालायित रहती थी। भारतीय वस्त्र के बने परिधानो को धारण कर वे अत्यन्त गौरव का अनुभव करती थी।

भारतीय वस्त्र व्यवसाय का महत्त्व और प्राचीनता तो इसी से प्रकट होती है कि ईसा के दो हजार वर्ष पूर्व की पुरानी मिस्र के पिरामिडो (समाधियो) में जो ममीज (शव) है वे भारत की बनी हुई बढिया मलमल मे लिपटे हुए पाये गए है। विदेशों मे भारतीय मलमल तथा वस्त्र के साहित्यिक नाम रक्खे गए थे। किसी देश मे उसे शबनम (ओस विन्दु) के नाम से पुकारा जाता था तो कही उसे गगेतिका के नाम से सम्बोधित किया जाता था। किसी देश में उसे चादनी और ऊषा किरण से उपमा दी जाती

थी। विदेशी व्यापारी भारतीय वस्त्र को खरीद कर ले जाने के लिए परस्पर भीषण प्रतिस्पर्द्धा करते थे और विदेशी बाजारों में उसकी कल्पनातीत माग थी। व्यापारियों को इस व्यापार में आशातीत लाभ होता था।

लोहे का धधा भी भारतवर्ष में उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुच गया था। उसके द्वारा केवल देश की ही आवश्यकता पूरी नही होती थी वरन् भारत की बनी हुई लोहे की वस्तुये विदेशो को भी भेजी जाती थी। लगभग दो हजार वर्ष पुराना दिल्ली के पास जो ल ह स्तम्भ (ध्रुव कीली) है। उससे यह ज्ञात होता है कि उस समय की कारीगरी कितनी ऊचे दर्जे की थी। उस प्राचीन लोह स्तम्भ को देख कर आज का इजीनियर आश्चर्यचकित रह जाता है। आज के इजीनियरो तथा लौह विशेषज्ञो के लिए यह महान् आश्चर्य की बात है कि उस समय उस प्रकार का लौह स्तम्भ किस प्रकार बनाया जा सका। उस समय भारत का इस्पात फारस, अरब, ईराक तथा योरोप के सभी देशो को जाता था। ससार प्रसिद्ध दमिश्क की तलवारें भारत में बने इस्पात से ही तैयार की जाती थी। साराश यह कि अत्यन्त प्राचीन काल मे ही भारत मे लोहे और इस्पात का धधा अत्यन्त उन्नत अवस्था को प्राप्त कर चुका था।

वस्त्र और लोहे के अतिरिक्त जरी, कमख्वाब, इत्र, लकडी और हाथीदात की वस्तुए भारत से विदेशो को जाती थी और उनकी योरोप के राजदरबारो तथा समृद्धिशाली परिवारो मे बहुत माग थी। जब योरोप के व्यापारी भारत के माल को योरोप की राजधानियो मे लेकर पहुचते थे तो राजधानी के बाज़ार मे अकथनीय हलचल उत्पन्न हो जाती थी। एक प्रकार से प्रदर्शिनी लग जाती। व्यापारी, सामन्त-गण तथा सम्भ्रान्त व्यक्ति सभी उन वस्तुओ को देखने आते। उन वस्तुओ को खरीदने के लिए उनमें भीषण प्रतिस्पर्द्धा होती थी। यही कारण था कि भारतीय माल का व्यापार उस समय ससार मे सब से अधिक लाभदायक व्यापार माना जाता था। जिस जाति के व्यापारियो के हाथ मे भारत का विदेशी व्यापार रहता वे ससार मे समृद्धिशाली और वैभव-सम्पन्न बन जाते थे। यही कारण था

कि योरोप के प्रत्येक देश मे भारत के विदेशी व्यापार पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करने की उत्कट लालसा जागृत हो गई ।

प्राचीन काल में बैबीलोन और असीरिया के राज्यो मे भारतीय माल बिकता था । कालान्तर मे उनका पतन हो गया अतएव अरब सौदागर भारतीय माल को ऊंटो पर लाद कर कंदहार, काबुल, फारस, ईराक के रास्ते भूमध्य सागर के तटवर्ती लैंबनान अर्थात् आधुनिक सीरिया के समुद्र तट के बंदरगाहों में पहुचाते थे । वहा फोनीसिया के व्यापारी उस माल को खरीद कर योरोप की राजधानियो मे बेच कर आशातीत लाभ कमाते थे । कालान्तर में कार्थेज के व्यापारी भी भारत के इस विदेशी व्यापार मे हिस्सा लेने लगे । फोनीसियन और कार्थेजियन व्यापारियो मे भीषण प्रतिस्पर्द्धा आरम्भ हुई और कार्थेज के व्यापारियो की प्रमुखता हो गई । फोनीसिया के व्यापारियो के व्यापार का ह्रास हो गया ।

कुछ शताब्दियो के उपरान्त इटली के प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र जिनोआ और वैनिस के व्यापारियो ने कार्थेज के व्यापारियो के हाथ से भारत के व्यापार को छीन लिया । जिनोआ और वैनिस के व्यापारियो का भारत के वैदेशिक व्यापार पर एकाधिपत्य स्थापित हो गया । इसका परिणाम यह हुआ कि जिनोआ और वैनिस के व्यापारी योरोप मे सब से अधिक धनी हो गए और इन दोनो व्यापारिक केन्द्रो में वैभव छा गया ।

कुछ समय के उपरान्त डच और पुर्तगीज़ जातियो का योरोप के रग-मच पर उदय हुआ । वे राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली बन गईं। उनके पास शक्तिवान जहाजी बेडे थे । अस्तु जिनोआ और वैनिस के व्यापारियो का पराभव हुआ और भारत का विदेशी व्यापार डच और पुर्तगीज व्या-पारियो के हाथ में चला गया । इसका परिणाम यह हुआ कि यह दोनो देश अत्यन्त धनी और समृद्धिशाली राष्ट्र बन गए । योरोप के सारे देश पुर्तगीज़ और डच व्यापारियो के इस वैभव को देखकर ललचाई दृष्टि से उनकी ओर देखते थे ।

इसी समय ईसाई राष्ट्रों तथा मुस्लिम तुर्क साम्राज्य में धर्म-युद्ध

(क्रूसेडस) छिडा। योरोप के ईसाई राष्ट्र चाहते थे कि ईसा का जन्म-स्थान यरूशलम जो तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत अरेबिया में स्थित था उनको मिल जावे। इसी प्रश्न को लेकर तुर्कों और योरोपीय राष्ट्रों में लगभग सौ वर्ष तक युद्ध चलता रहा। भारत के विदेशी व्यापार का स्थल मार्ग यही था। अस्तु, भारत से योरोप का स्थल मार्ग से सबध टूट गया और भारत का माल योरोप मे पहुचना कठिन हो गया।

जब भारत का स्थल मार्ग अवरुद्ध हो गया तो योरोप के व्यापारियो को बडी चिन्ता हुई और प्रत्येक देश के साहसी नाविक भारत को जल मार्ग ढूढने के लिए निकल पडे। भारत की खोज करते-करते योरोपवासियो ने ओशेनिया के द्वीप समूह तथा उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका को ढूढ निकाला और अन्त मे वास्कोडीगामा जहागीर के काल में भारत पहुचा और तब से भारत का योरोप से जलमार्ग द्वारा सम्बन्ध स्थापित हो गया।

जैसे ही भारत के लिए जलमार्ग ज्ञात हुआ योरोप के उन्नतिशील देशो में तीव्र प्रतिस्पर्द्धा और आर्थिक हलचल आरम्भ हो गई। प्रत्येक देश इस बात का प्रयत्न करने लगा कि भारत का व्यापार उसके अधिकार मे आ जावे। इसी उद्देश्य से इगलैण्ड, फ्रास, हालैण्ड, पुर्तगाल तथा स्पेन मे भारत तथा पूर्व से व्यापार करने के लिए वहा के शासको की सरक्षकता मे कम्पनिया स्थापित हुई। यह कम्पनिया भारत से व्यापार करती थी और उनमें भीषण प्रतिस्पर्द्धा चलती थी। अन्त मे ब्रिटिश ईस्ट इडिया कम्पनी ने सबो को परास्त कर भारत के विदेशी व्यापार पर ही अपना एकाधिपत्य स्थापित नही किया वरन् भारत में ब्रिटिश का साम्राज्य भी स्थापित कर दिया।

प्राचीन काल मे भारतीय आर्थिक जीवन मे विदेशी व्यापार का बडा महत्त्व था। योरोप के अतिरिक्त फारस की खाडी, वर्मा, मलाया और चीन से भी बहुत अधिक व्यापार होता था। उस समय के भारत के विदेशी व्यापार का सब से महत्त्वपूर्ण लक्षण यह था कि भारतीय माल के बदले विदेशो से भारतवर्ष को बहुत-सा सोना-चादी प्राप्त होता था। कारण

यह था कि भारत औद्योगिक दृष्टि से अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा इतना अधिक उन्नत था कि वे भारत को कोई वस्तु नही दे सकते थे अतएव सोना और चादी देकर ही वे भारत का माल खरीदते थे ।

उस समय भारतवर्ष आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त वैभवशाली राष्ट्र था। भारत के राज-दरबारो का वैभव तथा भारतीय व्यापारियो तथा सामन्तो की वैभव-श्री को देखकर विदेशी चकित हो जाते थे। भारत के व्यापारिक केन्द्रो मे बहुत चहल-पहल रहती थी। *भारतीय व्यापारियो की कोठिया* पडोसी राष्ट्रों में स्थापित थीं जहा कि उनके मुनीम काम करते थे। हुडी का प्रचलन बहुत अधिक बढ गया था और साख की समुचित व्यवस्था थी। साहूकारो का देश और समाज में बहुत आदर होता था। यहा तक कि बडे साहूकारो का राज-दरबारो मे भी सम्मान होता था। उन्हे नगरसेठ और जगत सेठ जैसी पदवियो से विभूषित किया जाता था। समय पड़ने पर राज्य भी इनसे ऋण लेता था ।

व्यापारियो और साहूकारो की भाति ही कुशल कारीगरो का भी समाज में बहुत आदर था। उन्हे शासकों का सरक्षण प्राप्त था और उन्हे भी राज-दरबारो मे कलाकारो की ही भाति सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त थी। कारीगरी की सुन्दर वस्तुए बनाने पर उन्हे पारितोषिक देकर सम्मानित किया जाता था। प्रत्येक राजधानी मे कारखाने स्थापित थे जहा कि कुशल कारीगर रखे जाते थे और जो राज-परिवार तथा सामन्तो के लिए कारीगरी की सुन्दर वस्तुओ का निर्माण करते थे। समाज मे कारीगर आज की भाति नीची दृष्टि से नही देखा जाता था वरन् उसका स्थान बहुत ऊचा था ।

खेती की दृष्टि से भी देश उन्नत अवस्था में था। किसान खाद का उपयोग करते थे और भूमि उर्वरा होने के कारण भूमि की उपज अच्छी थी। कहने का तात्पर्य यह था कि देश धन-धान्य से परिपूर्ण था और सारे देश में मानो वैभव बिखरा हुआ था। यही कारण था कि भारत ने उस काल में साहित्य, चित्र-कला, आयुर्वेद, मूर्तिकला, स्थापत्य-कला, जवाहरातो तथा

सोने-चादी के आभूषणो के बनाने की कला मे आश्चर्यजनक उन्नति की थी।

किन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी के द्वारा जब देश की राजनीतिक स्वतत्रता छीन ली गई और भारत का भाग्य सूर्य डूब गया तो राजनीतिक पराभव के साथ-साथ भारत का आर्थिक दृष्टि से पतन हो गया। राजनीतिक दासता और आर्थिक पतन की यह कहानी अत्यन्त दुखद और रोमाचकारी है। अगले पृष्ठो मे हम उसका अध्ययन करेंगे।

अध्याय पांचवां

औद्योगिक-क्रान्ति

घरेलू व्यवस्था का उदय

यह हम पहले ही कह चुके है कि मध्य युग में उद्योग-धधो का नियंत्रण कारीगर सघो के द्वारा होता था और नगरो तथा व्यापारिक केन्द्रो में व्यापारी सघ व्यापार का नियत्रण करते थे। यह सघ केवल आर्थिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नही थे वरन् उन्होने राजनीतिक महत्त्व भी प्राप्त कर लिया था। भारत मे भी भिन्न-भिन्न जातियो का आधार मुख्यत आर्थिक ही रहा है, और जिस प्रकार योरोपीय कारीगर सघो ने उद्योग-धधो पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था उसी प्रकार भारत में यह पेशेवर जातिया कार्य करती रही। मध्य युग के अन्त तक योरोप मे आर्थिक जीवन का आधार यह सघ-व्यवस्था ही थी। किन्तु कालान्तर मे जब गमनागमन तथा यातायात के साधनो के विस्तार होने से व्यापार का क्षेत्र विस्तृत होने लगा तो यह संघ-व्यवस्था समाप्त होने लगी। इस संघ-व्यवस्था के अन्त होने का एक कारण यह भी था कि जो सघ अधिक सफल थे और जिनका अपने धधे अथवा पेशे पर एकाधिपत्य स्थापित हो गया था वे उस का दुरुपयोग करने लगे। सघ के जो पुराने और कुशल कारीगर सदस्य होते थे उन्होने नव आगन्तुको के प्रति उदार व्यवहार करना बंद कर दिया। वे युवको को अपरेंटिस नही बनाते थे। जो लोग सात साल तक उद्योग की शिक्षा प्राप्त कर लेते थे और मजदूर कारीगर बन जाते थे उन्हें वे स्वतंत्र कारीगर नही बनने देते थे। इसका परिणाम यह होता था कि मजदूर कारीगर (जरनीमैन) कभी भी सघ के सदस्य नही बन पाते थे और सघ का संचालन-सूत्र केवल पुराने कुशल कारीगरो के हाथ में ही रहता था। इस अनुदार नीति का परिणाम यह हुआ कि नव-आगुन्तको को आगे बढने

तथा उन्नति करने मे कठिनाई आने लगी। विवश होकर मजदूर कारीगर अपने पैतृक निवास-स्थान को छोड कर अन्य स्थानो मे और विशेषकर गावो तथा छोटे कस्बो में जाकर बसने लगे और वहा स्वतत्र कारीगरो के समान अपना धधा स्थापित करने लगे। इसी प्रकार नगरो में व्यापारी सघो में जब अनुदारता प्रकट हुई और उन्होने भी नव-आगन्तुको का प्रवेश न होने देने का प्रयत्न किया तो नव-आगन्तुको ने अपना व्यापारिक कार्य अन्य स्थानो पर करना आरम्भ किया और घूमने वाले व्यापारियो का रूप धारण कर लिया क्योकि जब कारीगर देश मे बिखर गए तो यह घूमने वाले व्यापारी उनके माल को लेकर अन्य स्थानो पर ले जाकर बेचने लगे।

अस्तु, समय और परिस्थिति के बदलने के कारण सघ अवस्था का स्थान घरेलू अवस्था ने ले लिया।

व्यापार के विस्तार, और सघ अवस्था के अन्त के साथ ही आर्थिक ससार मे एक नवीन वर्ग ने जन्म लिया। हमारा तात्पर्य उन मध्यस्थ व्यक्तियों के वर्ग से है जो स्वय दस्तकारी को अपना धधा न बना कर केवल यह काम करते थे कि दूसरे कारीगरो को मजदूरी देकर उनसे वस्तुए तैयार करवाते थे और बाद मे उनकी बिक्री का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेते थे। इस प्रकार वे कारीगर और ग्राहको के बीच में एक मध्यस्थ का काम करते थे। इनको हम व्यापारिक मध्यम वर्ग के नाम से जानते है।

वास्तविक कारीगर अब भी स्वतत्र रूप से अपने घर पर ही काम करते थे। किन्तु अब उनको अपनी वस्तु के लिए ग्राहक नही ढूढना पडता था और न उनको यह देखने की आवश्यकता थी कि उनकी वस्तु की स्थानीय माग है अथवा नही। उनका अब केवल एकमात्र कार्य वस्तु तैयार करना रह गया था। ग्राहको की चिन्ता से अब वह सर्वथा मुक्त हो गये थे। अब उनको अपनी वस्तु का निश्चित मूल्य पूजीपति व्यापारी से जो उनके तथा उपभोक्ताओ के बीच में मध्यस्थ का कार्य करता था मिल जाती थी। इस सीमा तक कारीगर वर्ग पूजीपति वर्ग पर निर्भर हो चुका था। क्रमश कारीगर की स्वतत्रता का लोप होना आरम्भ हो गया।

पूंजीपति व्यापारी अधिकांश मे वे सम्पन्न कुशल कारीगर होते थे जिनके पास कुछ पूंजी इकट्ठी हो जाती थी और जो कारीगरो की बनी वस्तुओं को खरीद कर भविष्य मे उनको बेचने के लिए एकत्रित कर लेते थे। यह पूंजीपति व्यापारी फुटकर कारीगरो से वस्तुए खरीद कर बडे नगरो मे तथा मेलो मे उन वस्तुओं को बेचते थे। इस कारण उन्हे बहुत बडी राशि में उन वस्तुओं को एकत्रित करना पडता था जिनके लिए अपेक्षाकृत अधिक पूंजी की आवश्यकता होती थी। कारीगर को अब वस्तुओं के बेचने की चिंता नही रही, वह केवल वस्तुओ को बनाने भर का कार्य करता था। पहले कभी-कभी ऐसा भी होता था कि स्थानीय माग कम हो जाने पर वह वस्तुओ को बनाने का कार्य शिथिल कर देता था किन्तु अब वह बिना किसी कठिनाई के अनवरत उत्पादन कार्य में लगा रहने लगा।

कुछ समय तक तो पूंजीपति व्यापारी केवल वस्तुओ की बिक्री का ही कार्य करता था किन्तु क्रमश पूंजीपति व्यापारी कारीगरो को यह सकेत भी देने लगा कि अमुक प्रकार की वस्तु की माग अधिक है, अस्तु, उसे वैसी ही वस्तु तैयार करनी चाहिये। अब कारीगर वस्तु के निर्माण में भी स्वतंत्र नही रहा। उसको व्यापारी की इच्छानुसार ही वस्तु बनानी पडती थी। कालान्तर में पूंजीपति व्यापारी ने कारीगर को कच्चा माल देने का काम भी अपने हाथ में ले लिया। वह अब दोहरा लाभ कमाने लगा। एक तो तैयार वस्तु को बेच कर वह ग्राहक से लाभ कमाता था, दूसरे कारीगर को कच्चा माल देकर उस पर भी लाभ कमाने लगा। होता यह था कि कारीगर को कच्चा माल दे दिया जाता था। इससे दो लाभ होते थे, एक तो, कारीगर पूंजीपति व्यापारी से बध जाता था, अन्य व्यापारी से संबध स्थापित नही कर सकता था, दूसरे, पूंजीपति कारीगर को अब केवल मजदूरी भर देता था। कालान्तर में पूंजीपति व्यापारी, कारीगर को औजार भी देने लगा। कहीं-कही ऐसा भी हुआ कि पूंजीपति व्यापारी एक स्थान पर कच्चा माल तथा औजार एकत्रित कर देता और कारीगरों को वहा जाकर काम करना पड़ता था। उस दशा में कारीगर को घर को भी छोड़ना पड़ता

था और वह मजदूर की भाति वहा कार्य करता था। परन्तु अधिकाश कारीगर अपने घरो पर ही व्यापारी के दिए हुए कच्चे माल तथा औजारो से व्यापारी के लिए वस्तुए तैयार करता था। इस प्रकार हम देखेंगे कि शनैं-शनैं कारीगर पूजीपति व्यापारी पर निर्भर होता था। कारीगर की यह दासता उसी मात्रा मे बढती गई कि जिस मात्रा मे व्यापार का क्षेत्र विस्तृत होता गया और बाजार के लिए माल उत्पन्न करने की जोखिम बढती गई। यहा यह सकेत कर देना उचित है कि इस व्यापारी मध्यमवर्ग ने भी वस्तुओ के बाजार को अधिक विस्तृत बनाने मे सहायता दी। अठारहवी शताब्दी के मध्य तक इगलैण्ड मे औद्योगिक-क्रांति के पूर्व तथा योरोप के अन्य देशो में अठारहवी शताब्दी के अन्त तक तथा भारतवर्ष में उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक इसी प्रकार की आर्थिक व्यवस्था कायम थी।

१७६० के उपरान्त इगलैण्ड में औद्योगिक-क्राति हुई और कालान्तर मे योरोप तथा अन्य देशो मे भी औद्योगिक-क्रान्ति का श्रीगणेश हुआ। औद्योगिक-क्रान्ति के फलस्वरूप घरेलू व्यवस्था का अन्त हो गया और फैक्टरी व्यवस्था का आविर्भाव हुआ।

औद्योगिक-क्रान्ति

औद्योगिक-क्रान्ति से हमारा तात्पर्य उस महान् आर्थिक परिवर्तन से है जो यत्रो के आविष्कार तथा यान्त्रिक सचालन शक्ति के आविष्कार से प्रकट हुआ। 'क्रान्ति' शब्द के प्रयोग से यह मान लेना भूल होगी कि यह परिवर्तन अकस्मात् हो गया। वस्तुस्थिति यह है कि औद्योगिक-क्रान्ति कोई एक दिन अथवा एक महीने मे नही हो गई। कोई भी आर्थिक परिवर्तन अकस्मात् नही हुआ करते। औद्योगिक-क्रान्ति को भी अपना सम्पूर्ण प्रभाव जमाने में लगभग सौ वर्ष लग गए। क्रान्ति शब्द का प्रयोग केवल इसलिए किया गया है कि धन के उत्पादन के साधनो में जो परिवर्तन हुए वे क्रान्तिकारी थे और उनके फलस्वरूप सारी आर्थिक-व्यवस्था मे ही क्रान्तिकारी और

मूलभूत परिवर्तन हो गया। औद्योगिक-क्रान्ति के फलस्वरूप जो आर्थिक परिवर्तन हुए वे इतने गम्भीर, महत्त्वपूर्ण और क्रान्तिकारी थे, उनमें होने वाले लाभ और हानियों का उनमें ऐसा भयानक सम्मिश्रण था कि जहाँ एक ओर उनके कारण मानव को अपार भौतिक समृद्धि प्राप्त हुई वहाँ दूसरी ओर उसके फलस्वरूप सामाजिक उत्पीड़न भी इतना अधिक हुआ कि जिसकी साधारण व्यक्ति कल्पना भी नहीं कर सकता। यही कारण है कि विचारक और लेखक उसको औद्योगिक क्रान्ति के नाम से सम्बोधित करते हैं। सच तो यह है कि औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मानव जाति ने जिस आर्थिक समृद्धि को प्राप्त किया है उसका मूल्य उसे सामाजिक उत्पीड़न के रूप में चुकाना पड़ा था।

औद्योगिक क्रान्ति सब देशों में एक साथ नहीं हुई। सर्वप्रथम औद्योगिक क्रान्ति ब्रिटेन में हुई और यही कारण था कि डेढ़ सौ वर्ष तक ब्रिटेन संसार का प्रमुख औद्योगिक राष्ट्र रहा। ब्रिटेन के उपरान्त फ्रांस, बेलजियम, और जर्मनी ने औद्योगिक-क्रान्ति का अनुभव किया। ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति १७६० के समीप हुई, फ्रांस और बेलजियम में १८०० के उपरान्त और जर्मनी में औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव १८५० के उपरान्त प्रकट हुआ। क्रमशः यह राष्ट्र महान् औद्योगिक राष्ट्र बन गए। क्रमशः योरोप के अन्य राष्ट्रों में भी औद्योगिक-क्रान्ति का प्रादुर्भाव हुआ। एशिया, अफ्रीका, अमेरिका, तथा ओशेनिया औद्योगिक क्रान्ति की दृष्टि से अछूते रहे। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक यह महाद्वीप योरोपीय औद्योगिक राष्ट्रों के कारखानों के माल के बाजार मात्र बने रहे। बीसवीं शताब्दी में जापान, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, महत्त्वपूर्ण औद्योगिक राष्ट्र बन गए तथा प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९२०) के फलस्वरूप उन्होंने एशिया, अफरीका, अमेरिका तथा ओशेनिया महाद्वीपों में अपने लिए विस्तृत बाजार स्थापित कर लिये। उसी समय, सोवियत रूस ने पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा अपनी आर्थिक-व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन करना आरम्भ कर दिया और भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा चीन में आधु-

निक ढग के उद्योग-धधो का आरम्भ हुआ। १९५० तक कनाडा, आस्ट्रेलिया और भारतवर्ष भी महत्वपूर्ण औद्योगिक राष्ट्र बन गए और ससार के प्रत्येक देश मे आधुनिक ढग के उद्योग-धधो का प्रारम्भ हो गया। आज सभी देश अपनी औद्योगिक उन्नति के लिए भरसक प्रयत्न कर रहे है। भारतवर्ष भी अपनी पचवर्षीय योजना बनाकर तेजी से औद्योगिक उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है।

यह हम पहले ही कह चुके है कि सर्वप्रथम औद्योगिक-क्रान्ति ब्रिटेन में हुई। कुछ लेखको की यह धारणा है कि ब्रिटेन में जो सर्वप्रथम यत्रो *तथा भाप के ऐंजिन के आविष्कार हुए उसके कारण ही वहा औद्योगिक-*क्रान्ति हुई। इसमें तनिक भी सदेह नही है कि यह आविष्कार भी कतिपय कारणो से ही ब्रिटेन मे हुए। अतएव यह धारणा कि मशीनो तथा भाप द्वारा सचालित ऐंजिन के आविष्कार के कारण ही ब्रिटेन मे सर्वप्रथम औद्योगिक-क्रान्ति हुई भ्रान्तिपूर्ण है। सच तो यह है कि आर्थिक तथा राजनीतिक कारणो से ब्रिटेन मे जो परिस्थिति उत्पन्न हो गई उसी के परिणामस्वरूप आविष्कार हुए और उन आविष्कारो के परिणामस्वरूप ब्रिटेन मे औद्योगिक-क्रान्ति हुई।

औद्योगिक-क्रान्ति का आर्थिक कारण तत्कालीन वैदेशिक व्यापार था। उस समय आश्चर्यजनक गति से समुद्री व्यापार बढा और विदेशो को ब्रिटेन के उद्योग-धधो का बना हुआ माल भेजा जाने लगा। ब्रिटेन की नाविक शक्ति बढी हुई थी। अस्तु, विदेशी व्यापार में ब्रिटेन का बहुत बडा भाग था। इसका परिणाम यह हुआ कि एशिया, अफ्रीका, अमेरिका, तथा ओशेनिया महाद्वीपो में ब्रिटेन के माल के लिए विस्तृत बाजार स्थापित हो गए। जब बाजारो का विस्तार हुआ तो स्वभावत धधो मे अधिक और सूक्ष्म श्रम विभाजन तथा विशेषीकरण की आवश्यकता हुई। किसी क्रिया को करने के लिए यन्त्र का आविष्कार तभी होता है जबकि सूक्ष्म श्रम-विभाजन के फल सम्पूर्ण पेचीदी क्रियायें सरल और सुबोध सूक्ष्म क्रिया में परिणत हो जाती हैं। अतएव बाजार के विस्तार के फलस्वरूप श्रम-

विभाजन और विशेषीकरण आवश्यक हो गया और उसके परिणाम-स्वरूप यत्रो का आविष्कार हुआ ।

एक दूसरा भी कारण था जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटेन मे औद्योगिक-क्रान्ति सर्वप्रथम हुई । नये महाद्वीपो के बाजार पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए ब्रिटेन, हालैड, पोर्तुगाल, फ्रास और स्पेन मे भीषण सघर्ष हुआ और अन्त मे ब्रिटेन ने उन राष्ट्रो को परास्त करके एशिया, अमेरिका, ओशेनिया तथा अफ्रीका के विस्तृत बाजारो पर अपना एकाधिपत्य जमा लिया । जब इन देशो पर ब्रिटेन का राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हो गया और महान और विशाल ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई तो इन उपनिवेशो और अधीन राष्ट्रो के बाजार अन्य देशो के माल के लिए बद कर दिए गए; केवल ब्रिटेन का माल ही इन देशो के बाजारो मे मिल सकता था । ब्रिटेन के उद्योग-धधो को एक विस्तृत बाजार की माग को पूरा करना था । अतएव इस बात की आवश्यकता थी कि ब्रिटेन अधिकाधिक माल तैयार करे । उस बढे हुए विदेशी व्यापार की तुलना मे ब्रिटेन की जनसंख्या कम थी। अस्तु, ब्रिटेन के लिए उत्पादन को बढाने का एकमात्र उपाय मशीनों से उत्पादन करना था । इसके विपरीत यद्यपि फ्रास ब्रिटेन मे अधिक समृद्धिशाली और उन्नत राष्ट्र था किन्तु उसके उपनिवेश न होने के कारण उसके माल के लिए कोई विस्तृत बाजार उपलब्ध नही था। साथ ही उसकी जनसख्या भी अधिक थी । यही कारण था कि फ्रास मे यंत्रो का आविष्कार नही हुआ । जर्मनी उस समय तक एक राष्ट्र नहीं बन पाया था। वहा छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य थे जो आपस में लडते रहते थे। जर्मनी मे उस समय तक राजनीतिक एकता भी स्थापित नही हो पाई थी। इसके अतिरिक्त अपने अधीन राष्ट्रो विशेषकर भारत के धन को लूटकर तथा उनका शोषण करके और विदेशी व्यापार से प्राप्त लाभ के कारण ब्रिटेन में बहुत अधिक पूजी एकत्रित हो गई थी जो औद्योगिक-क्रान्ति के लिए अनिवार्य शर्त थी । इन्ही कारणो से ब्रिटेन मे सर्वप्रथम औद्योगिक क्रान्ति हुई ।

ब्रिटेन मे औद्योगिक-क्रान्ति को सफल बनाने के और भी कारण थे। ब्रिटेन के शासक अधिक उदार थे। उन्होने इन परिवर्तनो को रोकने का प्रयत्न नही किया। उनमे पुरातन से चिपटे रहने का आग्रह नही था, इस कारण उन्होने धधो मे होने वाले परिवर्तनो का स्वागत किया। उद्योग-धधो, तथा विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन दिया।

औद्योगिक-क्रान्ति लोहे और कोयले पर निर्भर है

वास्तव मे औद्योगिक-क्रान्ति लोहे और कोयले पर निर्भर थी। ब्रिटेन में यत्रो का जब आविष्कार हुआ तो उस समय भाप का उपयोग नही किया जाता था। मशीनो को बहते हुए जल की शक्ति से चलाया जाता था। अस्तु, सर्वप्रथम कारखाने नदियो के किनारे स्थापित किए गए। परन्तु जल कोई निश्चित सचालन शक्ति नही थी। यदि नदी मे बाढ आती और बहुत अधिक जल आ जाता तो पानी मे बहुत अधिक शक्ति और वेग होता, परन्तु यदि नदी मे जल कम हो जाता अथवा सूख जाता तो कारखाना बद करना पडता था। यही नही, बहुत अधिक शीत पडने पर नदी का जल जम कर हिम बन जाता और कारखाना बद करना पडता। इसकी तुलना मे कोयले के द्वारा उत्पन्न भाप बहुत ही निश्चित और बलवान शक्ति थी। बहते जल और भाप की कोई तुलना नही की जा सकती। भाप निरन्तर एक शक्ति और एक गति से मशीनो को चला सकती है। यही कारण था कि जब चालक शक्ति के लिए जल के स्थान पर भाप का उपयोग हुआ तो औद्योगिक-क्रान्ति सफल हुई।

भाप को कोयले से ही उत्पन्न किया जा सकता है। अस्तु, कारखाने कोयले की खानो के समीप ही स्थापित किए जाने लगे और वहा क्रमश- औद्योगिक केन्द्र स्थापित हो गए।

कारखानो मे मशीनो और यत्रो को चलाने के लिए जब भाप का उपयोग होने लगा तो लोहे की माग बहुत बढ गई। आरम्भ मे जब यंत्रो तथा मशीनो का आविष्कार हुआ तब वे लकडी की बनाई जाती थी। बहते

हुए जल की चालक शक्ति से चलाने पर वे ठीक काम देती थी। परन्तु जब कारखानों में भाप का उपयोग होने लगा तो लकडी की मशीने उस चालक शक्ति के प्रभाव को सहन नही कर सकी। इसका परिणाम यह हुआ कि मशीने लोहे की बनाई जाने लगी। परिणामस्वरूप लोहे की माग बहुत बढ़ गई। लोहे की मशीनो को बनाने के लिए लोहे की खराद (लेथ), स्टीम हैमर (भाप द्वारा चालित धन) तथा अन्य मशीनो और औजारो की *आवश्यकता हुई और आधुनिक यात्रिक-इजिनियरिग का प्रादुर्भाव* हुआ। परन्तु कच्चे लोहे को कोयले की खानो तक तब तक नही ले जाया जा सकता था कि जब तक यातायात सस्ता और वेगवान न होता। पशुओ द्वारा लोहे को बडी मात्रा में दूर तक ले जाना बहुत व्ययसाध्य और विलम्ब का कार्य था। अस्तु, रेल और भाप द्वारा चालित समुद्री जहाज की आवश्यकता हुई। रेलो और समुद्री जहाजो के प्रादुर्भाव के कारण लोहे और कोयले की माग और अधिक बढ गई। क्योकि रेलवे ऐंजिन, जहाज के ऐंजिन मे कोयला ही काम आता था और रेल के डब्बे, पटरी तथा जहाज, सब लोहे के बनते थे। भाप तथा लोहे की मशीनो के आविष्कार का परिणाम यह हुआ कि अन्य धधो में भी बडे-बडे कारखाने स्थापित हुए और बडी मात्रा का उत्पादन आरम्भ हुआ। अतएव रसायनिक पदार्थों की आवश्यकता अनुभव हुई और रसायनिक पदार्थो को उत्पन्न करने के लिए कारखाने स्थापित किए गए। किन्तु रसायनिक पदार्थो को उत्पन्न करने के लिए भी कोयले की बहुत अधिक आवश्यकता थी क्योकि बहुत से रसायनिक पदार्थ कोयले से ही निकाले जाते है। इसका परिणाम यह हुआ कि कोयले और लोहे की दृष्टि से जो धनी देश थे, औद्योगिक दृष्टि से उन्नति करने लगे।

परन्तु कोयले और लोहे की खानो को गहरा खोदने के लिए जहा मशीनो की आवश्यकता थी वहा प्रथम आवश्यकता इस बात की थी कि भाप का ऐसा ऐंजिन बनाया जावे जो खानो में से पानी बाहर फेंक सके नही तो खानो का खोदना असम्भव था।

भाप द्वारा चालित मशीनो के आविष्कार के परिणामस्वरूप बडी मात्रा का उत्पादन आरम्भ हुआ और बडे-बडे कारखानो की आवश्यकता हुई। परन्तु कारखानो की स्थापना तभी सम्भव थी कि जब पूजी यथेष्ट मात्रा मे एकत्रित हो और साख का उचित प्रबन्ध हो। ब्रिटेन के विदेशी व्यापार के कारण तथा भारत जैसे धनी देश की लूट के कारण यथेष्ट पूजी एकत्रित हो गई थी और वहा बैंको का विकास सत्रहवी शताब्दी मे ही हो गया था। बैंक आव इगलैण्ड की स्थापना १६९४ में हुई थी।

पूजी और साख के साथ-साथ यातायात और गमनागमन के साधनो की उन्नति भी औद्योगिक क्रान्ति को सफल बनाने के लिए आवश्यक थी क्योंकि बहुत अधिक जनसख्या वाले विशाल औद्योगिक केन्द्रो को भोजन पहुचाने, कारखानो के लिए कोयला तथा कच्चा माल पहुचाने, तथा तैयार माल को दूर-दूर तक ले जाने के लिए सस्ते और शीघ्रगामी यातायात की आवश्यकता थी। अतएव, रेलवे तथा भाप द्वारा चालित समुद्री जहाजो की नितान्त आवश्यकता अनुभव होने लगी। आरम्भ मे नहरो द्वारा माल लाने-ले जाने का प्रयत्न किया गया किन्तु जैसे-जैसे औद्योगिक विकास होता गया रेलो की अधिक आवश्यकता अनुभव हुई।

इस प्रकार हम देखते है कि मशीनो और भाप के आविष्कार के फलस्वरूप औद्योगिक-क्रान्ति हुई और उसके फलस्वरूप आर्थिक जगत् मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए उसी को हम औद्योगिक-क्रान्ति कहते है। अब हम विस्तारपूर्वक औद्योगिक-क्रान्ति की कहानी लिखेगे।

वस्त्र व्यवसाय मे मशीनो का आविष्कार

कपास या ऊन से सूत तैयार करने के लिए पहले उसको धुनने और पोनी बनाने की क्रिया करनी पडती है। कपास और ऊन को धुनने की क्रिया पहले हाथ से की जाती थी किन्तु १७४८ में एक मशीन उस क्रिया को करने के लिए बन चुकी थी। परन्तु उस मशीन का अधिक उपयोग उस समय तक नही हो सका जब तक कि सूत कातने की मशीन का आविष्कार नही हुआ

क्योंकि जब तक सूत हाथ से चर्खे पर काता जाता था तब तक कपास अथवा ऊन को अधिक राशि में धुनने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। फिर उस मशीन में कुछ दोष भी थे जिन्हें आर्करांइट ने १७७४ में दूर किया। उस समय इंगलैण्ड में सूत की कमी का अनुभव होता था क्योंकि जितने सूत का उपयोग एक बुनकर करता था उसको कातने के लिए आठ कत्तिनों की आवश्यकता होती थी। गरमियों में जब स्त्रियां फसल काटने में व्यस्त हो जाती तब तो सूत का बहुत टोटा पड़ जाता और बुनकर बेकार रहते थे। सूत की कमी को पूरा करने के लिए सूत कातने की मशीन की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। बहुतों ने ऐसी मशीन बनाने का प्रयत्न किया परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। १७६७ में ब्लैकबर्न नगर के श्री हारग्रीव्ज ने हाथ की सूत कातने की एक मशीन का आविष्कार किया और उसका नाम अपनी पत्नी के नाम पर "जैनी" रक्खा। आरम्भ में इस मशीन पर एक तार के स्थान पर ११ तार निकलते थे किन्तु शीघ्र ही हारग्रीव्ज ने उसमें सुधार कर दिया और एक साथ सौ तार निकलने लगे। यह मशीन हाथ से चलती थी अतएव घरों में सूत कातने का कार्य हो सकता था। परन्तु १७६८ में श्री आर्करांइट ने वाटर-फ्रेम नामक सूत कातने की मशीन का आविष्कार कर दिया और १७८५ से वह अधिक प्रचलित हो गई। वाटर-फ्रेम का उपयोग वहीं हो सकता था जहां जल-प्रवाह हो और प्रवाहित जल की शक्ति का उपयोग हो सके। अतएव वाटर-फ्रेम के प्रयोग का परिणाम यह हुआ कि फैक्टरी स्थापित करनी पड़ी। अब घरों में कातने वाले "जैनी" से सूत कातने लगे और वाटर-फ्रेम का उपयोग करने वाले कारखाने स्थापित हो गए जो कि जल-शक्ति द्वारा चालित होते थे। वाटर-फ्रेम से कता हुआ सूत अधिक मजबूत होता था। अतएव "जैनी" का सूत बाने के लिए और वाटर-फ्रेम का सूत ताने के लिए काम आता था। १७७५ में श्री क्राम्पटन ने एक नवीन मशीन का निर्माण किया। उसमें 'जैनी' और 'वाटर फ्रेम' दोनों की ही विशेषतायें सन्निहित थीं। उसका नाम "क्राम्पटन म्यूल" पड़ा। क्राम्पटन म्यूल से बहुत बारीक सूत काता जा सकता था।

पहले क्राम्पटन म्यूल हाथ से चलाई जाती थी किन्तु कुछ समय के उपरान्त जल-शक्ति का उपयोग किया जाने लगा। १८१२ तक म्यूल सर्वप्रचलित हो गई। आरम्भ में सूत कातने का कार्य हाथ से होता था। इन मशीनो के बन जाने से घोडो की शक्ति का, फिर जल-शक्ति का और अन्त में भाप का उपयोग किया जाने लगा और बडे-बड सूत के कारखाने स्थापित हो गए।

जब 'जैनी' 'वाटर-फ्रेम' तथा 'म्यूल' के कारण ऊनी और सूती सूत बहुत बडी मात्रा मे उपलब्ध होने लगा तो बुनकरो का अकाल पड गया। आरम्भ मे सूत की कमी के कारण ही सूत कातने की मशीनो का आविष्कार हुआ था किन्तु जब सूत कातने की मशीनो का आविष्कार हो गया और उसके परिणामस्वरूप सूत बहुत बडी राशि मे उत्पन्न होने लगा तो उस सूत को बुनकर बुन ही नही पाते थ। बुनकरो की माग अत्यधिक बढ गई और उनकी मजदूरी बहुत ऊची हो गई।

कुछ हद तक बुनकरो की कमी को फ्लाई-शटिल लूम (कर्घे) के उपयोग से पूरा किया गया। इस कर्घे को श्री 'के' ने १७३३में बनाया था। यह मशीन हाथ से चलती थी किन्तु एक बुनकर पुराने कर्घे की अपेक्षा बहुत अधिक कपडा बुन सकता था। इसका उस समय इतना अधिक विरोध हुआ कि श्री'के' को भाग कर फ्रास में शरण लेनी पडी। परन्तु जब 'जैनी', वाटर-फ्रेम' और म्यूल के आविष्कार के कारण कल्पनातीत सूत तैयार किया जाने लगा तो 'के' का कर्घा काम मे लाया जाने लगा। फिर भी जितना सूत तैयार होता वह बुना नही जा सकता था। अतएव, इगलैण्ड से सूत योरोप के अन्य देशो को जाने लगा और वहा हाथ कर्घो पर वह बुना जाने लगा। इससे इगलैण्ड के व्यवसायी भयभीत हुए, उन्होने १८०० मे एक सभा की और निश्चय किया कि शीघ्र ही कपडा बुनने की मशीन का आविष्कार किया जावे जिससे देश में तैयार सूत को देश में ही बुना जा सके। १७८४ मे श्री कार्टराइट ने एक शक्ति-सचालित कर्घे का आविष्कार किया था किन्तु उसमें कतिपय दोष थे इस कारण उसका प्रचार नही हुआ था। व्यवसायियो की इस सभा का परिणाम यह हुआ कि लोगो का

ध्यान इस महत्त्वपूर्ण समस्या की ओर गया और श्री जान्सन ने कार्टराइट के शक्ति-सचालित कर्घे के दोषो को दूर करके उसको उपयोगी बना दिया और तदुपरान्त बुनाई भी मशीनो मे होने लगी। १८३५ तक सर्वत्र इस शक्ति-सचालित कर्घे का प्रचार हो गया। सूती वस्त्र और ऊनी वस्त्र के धधे मे मशीनो के उपयोग से उत्पादन बहुत अधिक बढ गया। उसके लिए बहुत अधिक कपास और ऊन की आवश्यकता थी। सौभाग्यवश ब्रिटिश साम्राज्य में भारत, मिश्र, (उस समय सयुक्त राज्य अमेरिका) जैसे देश थे जो कपास उत्पन्न करते थे और आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैड ऊन उत्पन्न करते थे। अस्तु, इगलैण्ड के कारखानो को कच्चे माल की कोई कमी नही रही और यह धधे उत्तरोत्तर विकास करते गए। वस्त्र व्यवसाय की उन्नति के साथ ही लिनन और मोजा बनियायन बुनने का धधा भी विकसित हुआ और उसमें भी मशीनो का उपयोग होने लगा। 17680

वस्त्र व्यवसाय के विकास के फलस्वरूप औद्योगिक रसायनशास्त्र की उन्नति की आवश्यकता अनुभव होने लगी। पहले कपड़े की ब्लीचिंग क्रिया में आठ महीने लगते थे। कपड़ा खट्टे दूध मे रक्खा जाता था फिर कुछ महीने तक उसे हवा मे सुखाना पड़ता था। जब कारखानो में बहुत बडी मात्रा मे कपडा तैयार होने लगा तो बडी कठिनाई का सामना करना पडा। श्री रोबक ने १७४६ मे विट्रिय के तेल का आविष्कार किया जिससे थोडे समय में ही कपडे का ब्लीचिंग हो जाता था। इससे धधे मे एक क्रान्ति उत्पन्न हो गयी। इसके उपरान्त श्री वाट द्वारा ब्लीचिंग के लिए क्लोरीन का उपयोग किया गया और जिस क्रिया में आठ महीने लगते थे वह केवल थोडे से दिनो में होने लगी।

इसके साथ ही रंगो की निरन्तर अधिकाधिक आवश्यकता पडने लगी और कारखानो के मालिको ने रसायनवेत्ताओ को नये-नये रंगो को निकालने और बनाने के लिए बडे-बडे पारितोषिको की घोषणा की। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक नये रंग निकाले गये और उनको बडी मात्रा में उत्पन्न करने के लिए कारखाने स्थापित किए गए। वस्त्र व्यवसाय

के विकास के साथ-साथ औद्योगिक रासायनिक पदार्थों को बनाने के लिए भी कारखाने स्थापित किए गए ।

रगो के आविष्कार तथा बडी मात्रा के उत्पादन के उपरान्त यह समस्या उत्पन्न हुई कि छीट छापने के लिए भी कोई मशीन बनाई जावे । अभी तक यह होता था कि छापने वाले कपडे को छापते थे। उससे छीट बनाने मे बहुत व्यय होता था और अधिक छीट तैयार नही हो सकती थी । १७८५ मे सिलिडर मशीन का आविष्कार हुआ जिससे बहुत जल्दी ही कपडा छापा जा सकता था । अस्तु, अब ब्लीचिग, डाइग, तथा प्रिंटिग के लिए भी कारखाने स्थापित हो गए ।

आरम्भ में यह कारखाने नदियो के किनारे खडे किए गए क्योंकि जल के प्रवाह से शक्ति प्राप्त की जाती थी। परन्तु जब भाप का उपयोग किया जाने लगा तो कारखाने कोयले की खानो के समीप स्थापित किए गए और वहा औद्योगिक केन्द्र, स्थापित हो गए ।

लोहे, इजीनियरिग तथा कोयले के धधे का विकास

आरम्भ में इगलैण्ड मे लोहे का धधा जल तथा लकडी पर निर्भर था । लकडी से कोयला बनाकर लोहे को गलाया जाता था तथा जल-शक्ति का उपयोग धौकनियो को चलाने मे होता था । खनिज कोयले का उपयोग लोहे को गलाने मे इसलिए नही किया जा सकता था क्योंकि उसमे गधक तथा अन्य गैसे होती है जो कि लोहे को खराब कर देती थी । परन्तु एक ओर तो इगलैण्ड में अधिकाधिक लोहे की माग बढती गई और दूसरी ओर वहा लकडी का अकाल पड गया । वन काट डाले गए और लकडी का दुष्काल हो गया । अब इस बात की आवश्यकता अनुभव हुई कि खनिज कोयले का उपयोग कच्चे लोहे को गलाने में किया जावे । अन्त मे १७८२ मे जाकर खनिज कोयले का 'कोक' बनाकर उसका उपयोग कच्चे लोहे को गलाने मे किया जाने लगा । खनिज कोयले को जलाकर उसमे से गधक इत्यादि अन्य पदार्थ जो कि लोहे को खराब कर देते है

निकाल कर कोक बनाया जाने लगा और उससे लोहा गलाया जाने लगा। अस्तु, "पिग-आयरन" बनाने का धंधा जो पहले बनो और नदियो के समीप स्थापित था अब कोयले की खानो के पास स्थापित हो गया।

परन्तु जैसे ही कोयले का उपयोग लोहे को गलाने मे होने लगा कोयले की माग बहुत बढ गई और लोगो का ध्यान कोयले के धधे की ओर गया। कोयले की खानो को गहराई तक खोदने मे एक बहुत बडी कठिनाई यह थी कि खान में पानी भर जाता था। अस्तु, जब तक खान के पानी को पम्प द्वारा निकालने का प्रबन्ध न हो तब तक कोयले की खानो का खोदना सम्भव नही था। १७१२ मे न्यूकोमन ने खान से पानी को बाहर फेकने के लिए भाप द्वारा चालित पम्प का आविष्कार करके इस समस्या को हल कर दिया। परन्तु फिर भी एक समस्या बनी रही। गहरी खानो में से कोयले को खान के मुह तक लाने के लिए बहुत बडी सख्या मे मजदूर स्त्रियो को रखना पडता था जो कोयले को टोकरो में भर कर सीडियो द्वारा ऊपर लाती थी। १८४२ में 'वाट' ने जब दो क्रिया करने वाले भाप के ऐंजिन का आविष्कार किया तब यह समस्या हल हुई और गहराई से कोयला ऊपर लाने के लिए भाप का उपयोग किया जाने लगा। इन दो आविष्कारो से कोयले की खानो को खोदने में बहुत सरलता हो गई और कोयले का धधा शीघ्रता से विकसित हुआ।

भाप के ऐंजिन का उपयोग उद्योग-धधो मे बहुत धीरे-धीरे हुआ। ऐंजिन के आविष्कार के साथ ही उसका उपयोग तेजी से होने लगा हो ऐसा नही हुआ। न्यूकोमन का ऐंजिन जो कोयले की खानो का जल निकालने में काम आता था बहुत ही खर्चीला था। यही कारण था कि साठ वर्षों तक उसका उपयोग केवल कोयले की खानो मे ही हुआ, अन्य धंधो मे उसका कोई उपयोग नही हुआ। वाट ने ऐंजिन को कम खर्चीला बनाया; न्यूकोमन के ऐंजिन की तुलना मे उसमें चौथाई कोयला व्यय होता था। उसका परिणाम यह हुआ कि सभी खानो में 'वाट' के ऐंजिन का उपयोग होने लगा।

परन्तु उस समय ऐंजिन बनाना सरल काम नही था, इजिनियरिंग का विकास नही हुआ था। अस्तु, ऐंजिन के पुर्जो को वाट को स्वय बनाना पडता था और अपने बनाये हुए ऐंजिनो की मरम्मत करने के लिए स्वय जाना पडता था। १७८२ में वाट ने ऐंजिन मे और सुधार किए और अब वह सभी प्रकार की मशीनो को चलाने के योग्य बन गया। इसका परिणाम यह हुआ कि क्रमश भाप का उपयोग सभी प्रकार के कारखानो में होने लगा। परन्तु इजिनियरो के अभाव के कारण उद्योग-धधो में भाप का उपयोग बहुत धीरे-धीरे हुआ।

केवल स्टीम ऐंजिनो का निर्माण करने के ही लिए नही वरन् अन्य मशीनो को बनाने के लिए भी कुशल कारीगरो तथा इजिनियरो की आवश्यकता थी। साथ ही बडी मशीनो का निर्माण करने के मशीन-टूलो का आविष्कार नही हुआ था। १८२० मे मशीन-टूलो का आविष्कार हुआ और मशीनो का निर्माण सरल हो गया। क्लीमेंट ने १८२५ में प्लानिंग मशीन का आविष्कार किया, लेथ (खराद) का उसी ने १८२७ में आविष्कार किया और नैस्मिथ ने १८३९ मे स्टीम हैमर (भाप द्वारा चलने वाला घन) तथा १८३६ में छेद करने वाली तथा धातु को गोलाकार काटने वाली मशीन का आविष्कार किया। इन थोडे से आविष्कारो के फलस्वरूप मशीनो तथा पुलो इत्यादि का निर्माण सरल हो गया। क्रमश ब्रिटेन मे इजिनियरो का एक वर्ग तैयार हो गया जो मशीनो का निर्माण और उनकी मरम्मत कर सकता था।

क्रमश मशीनो का उपयोग उद्योग-धधो मे होने लगा और वे भाप द्वारा चलाई जाती थी। किन्तु यह परिवर्तन सरलतापूर्वक नही हो गया। मशीन के उपयोग का गहरा विरोध हुआ। कही-कही तो मजदूरो ने दगा कर दिया, मशीनो को तोड डाला। आरम्भ मे मशीने बहुत अच्छी नही होती थी। मशीनो के निर्माण करने वालो को समय-समय पर अपनी मशीन की देखभाल करनी पडती थी। यदि वे ठीक नही चलती थी तो उनकी मरम्मत करनी पडती थी। साधारण मजदूर फैक्टरियो में काम करना

पसंद नहीं करता था। फैक्टरियां खड़ी करने में आर्थिक जोखिम अधिक थी। अस्तु, साधारणतया जिनके पास यथेष्ट पूंजी होती थी वे भी कारखाना स्थापित करने में हिचकते थे। परन्तु यह सब कठिनाइयां होते हुए भी मशीनों का उत्पादन में उपयोग दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही गया और नई फैक्टरियां स्थापित होती गईं।

देखते-देखते सभी धंधों में भाप द्वारा चालित मशीनों का उपयोग बढ़ता गया और बड़ी मात्रा का उत्पादन फैक्टरियों में होने लगा। प्रगति के प्रवाह को रूढ़िवादी और पुरातन से चिपटे रहने वालों का विरोध नहीं रोक सका। औद्योगिक-क्रान्ति से कोई भी धंधा अछूता नहीं बचा। धंधों की काया पलट हो गई और समाज में नई समस्यायें खड़ी हो गईं जिनको हल करना आवश्यक हो गया। उनके सम्बन्ध में हम आगे लिखेंगे।

ऊपर के विवरण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। जैसे-जैसे नई मशीनों की आवश्यकता पड़ती गई लोगों का उस ओर ध्यान गया और आविष्कार हुए।

परिस्थितिवश ब्रिटेन में सर्वप्रथम औद्योगिक-क्रान्ति हुई और इस कारण ब्रिटेन संसार में सर्वश्रेष्ठ औद्योगिक राष्ट्र बन गया और आर्थिक जगत् में उसका यह नेतृत्व बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक बना रहा, कोई भी अन्य राष्ट्र उसके समकक्ष नहीं पहुंच सका। परन्तु औद्योगिक-क्रान्ति केवल ब्रिटेन तक ही सीमित नहीं रही, उन्नीसवीं शताब्दी में औद्योगिक-क्रान्ति की लहर योरोप के अन्य देशों में भी पहुंची और क्रमशः योरोप के देशों में फैक्टरी व्यवस्था स्थापित हो गई। बीसवीं शताब्दी में यह औद्योगिक-क्रान्ति की लहर संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, इत्यादि योरोप के बाहर के देशों में भी पहुंची और द्वितीय महायुद्ध (१९४५) के उपरान्त तो संसार का प्रत्येक देश इससे प्रभावित हुआ।

औद्योगिक-क्रांति का आर्थिक और सामाजिक प्रभाव

औद्योगिक-क्रान्ति के फलस्वरूप केवल धंधों में मशीनों और भाप

का ही उपयोग नही हुआ वरन् समाज की अर्थ-व्यवस्था मे भी क्रान्तिकारी और मूलभूत परिवर्तन हुए जिसके परिणामस्वरूप नई सामाजिक समस्याओं का जन्म हुआ । हम यहा उन आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तनो का अध्ययन करेंगे ।

औद्योगिक-क्रान्ति का पहला परिणाम यह हुआ कि फैक्टरियो की स्थापना हुई और बडी मात्रा का उत्पादन आरम्भ हुआ । यत्रो का उपयोग छोटी मात्रा के उत्पादन में नही हो सकता । इसका कारण यह है कि मशीन अथवा यत्र का आविष्कार तभी हो सकता है कि जब सूक्ष्म श्रम-विभाजन हो चुका हो अर्थात् जब भिन्न-भिन्न क्रियाओ का विभाजन करते-करते उनको इतना सूक्ष्म और सरल कर दिया जावे कि वह एक सामान्य क्रिया मात्र रह जावे । तभी किसी यत्र का आविष्कार उस सामान्य क्रिया को करने के लिए किया जा सकता है । अस्तु, मशीनो द्वारा किसी वस्तु को उत्पन्न करने के लिए एक क्रिया को अनेको सूक्ष्म सामान्य क्रियाओं में विभाजित करना पडता है । फिर प्रत्येक सूक्ष्म और सामान्य क्रिया के लिए एक मशीन का निर्माण होता है । जब एक वस्तु को उत्पन्न करने के लिए उसकी क्रियाओ को अनेको उपक्रियाओ में बाट दिया जाता है और प्रत्येक सूक्ष्म सामान्य उपक्रिया को एक मशीन करती है, एक पूरी वस्तु को तैयार करने के लिए अनेको मशीनें काम करती है, तब कहीं पूरी वस्तु तैयार होती है । अब यदि उत्पादन थोडी मात्रा मे किया जावे तो वे मशीनें बेकार रहेंगी क्योकि वह बहुत थोडे समय मे ही उस थोडी सी मात्रा को उत्पन्न कर देंगी । उदाहरण के लिए आलपीन को ले लीजिए । आलपीन जैसी सामान्य वस्तु को बनाने के कारखानो में अस्सी सूक्ष्म उपक्रियायें होती हैं और अस्सी मशीनें मिलकर एक पूरी आलपीन बनाती है । अब यदि केवल थोडी-सी ही आलपीनें बनाना हो तो वे मशीन कुछ मिनटो में ही उतनी आलपीन बना देंगी । मशीनो से थोडी मात्रा मे उत्पादन अत्यन्त व्ययसाध्य होगा क्योकि मशीनों का मूल्य बहुत अधिक होता है, उनमे बहुत अधिक पूजी लगानी पडती है । अतएव उस लगी हुई पूजी पर सूद और उसकी घिसावट का व्यय इतना

अधिक होगा कि यदि उत्पादन अधिक मात्रा मे न किया जावे तो लागत व्यय बहुत अधिक होगा। फिर स्टीम एजिन से भाप बनाकर उसका उपयोग तभी किया जा सकता है जब कि बडी मात्रा का उत्पादन हो, नही तो वह बहुत व्ययसाध्य प्रमाणित होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि मशीन तथा भाप की शक्ति का उत्पादन मे उपयोग तभी सम्भव हो सकता है कि जब बहुत अधिक मात्रा मे उत्पादन किया जावे। अतएव औद्योगिक-क्रान्ति के फलस्वरूप फैक्टरियो की स्थापना अनिवार्य हो गई।

फैक्टरियो की स्थापना के परिणामस्वरूप छोटे कारीगरो का धधा चौपट हो गया और उनका ह्रास होने लगा, क्योकि वे बडे कारखानो की प्रतिस्पर्द्धा में खडे नही हो सकते थे। स्वतत्र कारीगर अब केवल एक मजदूर रह गया और उसकी स्वतत्रता समाप्त हो गई।

फैक्टरियो की स्थापना के फलस्वरूप बडे-बडे औद्योगिक केन्द्र स्थापित हो गये जहा बहुत बडी सख्या मे मजदूर इकट्ठे हो गये। इस अत्यधिक भीड के कारण नगरो मे मकानो का अभाव हो गया, गदगी बढी और स्वास्थ्य की समस्याए उठ खडी हुई।

फैक्टरी व्यवस्था में बहुत अधिक पूजी की आवश्यकता होती है अतएव फैक्टरी वही स्थापित कर सकता है कि जिसके पास यथेष्ट पूजी हो। अस्तु, कुछ पूजीपतियो का उदय हुआ। जिन कतिपय धनी व्यक्तियो ने फैक्टरियो की स्थापना की वे पूजीपति बन गये। फैक्टरी के सफल होने पर जो उन्हे वार्षिक लाभ मिलता था वह फिर पूजी में परिणत हो जाता था। कालान्तर मे कुछ उद्योगपतियो के पास कल्पनातीत धन एकत्रित हो गया। समाज में पूजीपति वर्ग उदय हुआ।

फैक्टरी व्यवस्था के अन्तर्गत मालिक-मजदूरो के सम्बन्धो में बहुत परिवर्तन हो गया। गाव के कारीगर को अब मजदूर बनना पडा, उसे अपना पैतृक घर छोडना पडा और घनी आबादी के औद्योगिक केन्द्रो में आना पडा। उसकी स्वतत्रता लुप्त हो गई। उसे मालिक के वेतनभोगी कर्मचारियो के निरीक्षण में कारखाने में काम करना पड़ता था। फैक्टरी में

हजारो की सख्या में मजदूर कार्य करते थे, अतएव, अकेले एक मजदूर का कोई महत्त्व नही था। फिर मालिक का मजदूर से कोई सम्बन्ध ही नही रहा क्योकि कारखाने का सचालन तो वेतनभोगी कर्मचारी करते थे।

फैक्टरी-व्यवस्था के कारण व्यापार का स्वरूप ही बदल गया। पहले बहुधा स्वावलम्बी ग्राम होते थे परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप गावो का स्वावलम्बन नष्ट हो गया। कारखानो की बनी सस्ती वस्तुओ की प्रतिस्पर्द्धा के कारण गावो के कुटीर धधे समाप्त हो गये और कारखानो की बनी हुई वस्तुए गावो मे बिकने लगी। बडे-बडे औद्योगिक केन्द्रो के लिए खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने तथा कारखानो के लिए कच्चा माल उत्पन्न करने के लिए गावो मे व्यापारिक-कृषि का उदय हुआ। अतएव मिलो के बने हुए पक्के माल तथा गाव की पैदावार का विनिमय होने लगा। आन्तरिक व्यापार बढा। केवल देश के अन्दर ही व्यापार बढा हो यही बात नही थी, विदेशी व्यापार भी बहुत अधिक बढ गया। कारखानो का तैयार माल बडी मात्रा मे विदेशी बाजारो मे बेचा जाने लगा और विदेशो से कच्चा माल मगाया जाने लगा। व्यापार मे वृद्धि होने के कारण यातायात तथा गमनागमन के साधनो की उन्नति हुई, साख तथा बैंकिग का विकास हुआ बीमा करने की आवश्यकता पडी और बडे-बडे बाजारो की स्थापना हुई। सक्षेप मे व्यापार का स्वरूप ही बदल गया।

फैक्टरी-व्यवस्था का एक परिणाम यह हुआ कि परिवार की सस्था को धक्का लगा। कुटीर उद्योग धधो मे कुल परिवार उत्पादन कार्य करता था किन्तु फैक्टरी में सारा परिवार काम पा जावे यह असम्भव था। और यदि भाग्यवश एक ही कारखाने में सारा परिवार काम पा जावे तो एक साथ तो वे काम कर ही नही सकते थे। बहुधा होता यह है कि पुरुष एक कारखाने मे, स्त्री दूसरे कारखाने मे और बच्चे तीसरे कारखाने मे काम करते है। भारत में तो बहुधा मजदूर अपने परिवार को गाव में ही छोड जाता है और स्वय अकेला औद्योगिक केन्द्र में मजदूरी करने जाता है।

फैक्टरी पद्धति के फलस्वरूप समाज में धन की असमानता बहुत बढ

गई। कुछ थोडे से पूजीपति ऐसे है कि जिनके पास अपार धन है, वे अत्यन्त धनी है परन्तु अधिकाश निर्धन है ।

फैक्टरी पद्धति का एक परिणाम यह भी हुआ कि उत्पादन पर क्रमश एकाधिपत्य स्थापित हो गया, श्रम विभाजन अपनी चरम सीमा पर पहुच गया और उत्पादन बहुत बढ गया । वस्तुए सस्ती हो गई ।

मशीन अथवा यत्र का उपयोग

औद्योगिक-क्राति के फलस्वरूप उत्पादन-कार्य मे भाप अथवा विद्युत् से चलने वाले यत्रो का उपयोग इतना अधिक होने लगा कि आज साधारण-से-साधरण कार्य भी मशीनो के द्वारा ही किया जाता है। यही कारण है, आज के युग को हम मशीनो का युग कहते है । अस्तु, हम मशीन के प्रभाव का यहा एक सूक्ष्म चित्र उपस्थित करेगे ।

मशीनों के आविष्कार से मानव-समाज को बहुत से लाभ हुए है । आज मशीनो की सहायता से कठिन से कठिन कार्य भी इतनी सरलता मे होता है कि जिसका पहले अनुमान भी नही किया जा सकता था । उदाहरण के लिए सैकड़ो-हजारों मन बोझा क्रेन उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर रख देता है, सैकडों और हजारो व्यक्ति मिलकर भी उस बोझ को नही उठा सकते। मशीन के उपयोग से मनुष्य को शारीरिक श्रम कम करना पडता है।

मशीन के द्वारा आज ऐसे कार्य होते है जो या तो पहले हो ही नही सकते थे, अथवा अत्यन्त कठिनाई से होते थे। उदाहरण के लिए, बडे-बडे पुल, छोटी घडिया, वैज्ञानिक औजारो के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुर्जे इतने बडे परिमाण में बिना मशीनो के बनाना असभव ही था।

मशीनों के द्वारा श्रम-विभाजन का पूरा लाभ मनुष्य समाज को मिला है। वस्तुओ का उत्पादन बहुत अधिक बढ गया, वस्तुएँ बहुत सस्ती हो गई। इसका फल यह हुआ कि साधारण स्थिति का व्यक्ति भी उन वस्तुओ को आज खरीद सकता है जिनको मशीनो के अभाव मे केवल धनी व्यक्ति ही खरीद सकते थे। आज निर्धन व्यक्ति भी मलमल का कपड़ा काम मे लाता

है जिसका उपयोग पहले केवल धनी व्यक्ति ही करते थे। आज जो दफ्तर का चपरासी भी साइकिल रख सकता है, यह मशीनो का ही प्रताप है।

यह मशीनो के द्वारा ही सभव है कि एक से आकार और रूप की लाखो वस्तुएँ बनाई जा सके। हाथ से बनाई जाने वाली वस्तुएँ ठीक एक जैसी नही होती। उनमे थोडा बहुत अन्तर रहना अनिवार्य है। यही कारण है कि हाथ से बनाई जाने वाली वस्तुओ के अलग-अलग भाग बाजार मे नही मिलते। इसके विपरीत मोटर, साइकिल, घडी या अन्य किसी मशीन को लीजिये। इनमे से प्रत्येक वस्तु का छोटे से छोटा पुर्जा या भाग बाजार में मिलता है और वह उस मशीन मे बिलकुल ठीक बैठ जाता है।

जो कार्य कि नीरस और कष्टसाध्य होते है, वे मशीन करती है। उदाहरण के लिए लकडी चीरना, गरम लोहे को हथौडे से कूटना, रदा करना, कपास ओटना इत्यादि कार्य आज मशीनो द्वारा होता है।

मशीनो के द्वारा अब समय और दूरी की समस्या बहुत कुछ हल हो गई है। महीनो का काम कुछ दिनो मे और दिनो का काम कुछ घटो में हो जाता है। सैकडो और हजारो मील की दूरी से माल मँगाया जा सकता है और भिन्न-भिन्न देशो के रहने वाले निरन्तर एक दूसरे से सपर्क रखते है। आज जो मनुष्य कुछ घटो मे एक देश से दूसरे देश मे जा सकता है और बेतार के तार, तथा रेडियो इत्यादि से देश-विदेश की जानकारी घर बैठे प्राप्त कर लेता है, यह मशीनो के द्वारा ही सभव हुआ है।

मशीन आश्चर्यजनक गति से कार्य करती है। एक आधुनिक सिगरेट फैक्ट्री एक मिनट मे ढाई लाख सिगरेट बनाती है, भारत की एक साधारण बल्ब फैक्टरी ७५०० बल्ब प्रति दिन तैयार करती है। एक मशीन जितनी पिनें तैयार करती है, उनको गिनना सभव नही है। मशीन जिस गति से कार्य करती है, उसका अनुमान भी करना कठिन है।

परन्तु मशीनो से लाभ ही लाभ हो, ऐसी बात नही है। एक मशीन सैकडो मनुष्यो का काम करती है अतएव मशीन के प्रयोग से कारीगरो में बेकारी फैलती है, और हाथ की कारीगरी को बहुत धक्का लगता है। सच

तो यह है कि मशीन के उपयोग के कारण हाथ की कारीगरी प्राय लुप्त हो गई और हाथ-कारीगर केवल एक मजदूरमात्र रह गया। मशीनो से इतना अधिक और इतनी जल्दी माल तैयार होता है कि उसकी खपत देश में नही हो पाती। तब वह देश उस तैयार माल को अन्य देशो के बाजारो मे बेचना चाहता है और उन देशो मे गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा शुरू हो जाती है। इस व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा का फल यह होता है कि भिन्न-भिन्न देशो मे पारस्परिक संघर्ष, द्वेष और युद्ध की वृद्धि होती है।

फैक्टरियो मे मजदूरो के जमा होने के कारण औद्योगिक केन्द्रो मे अत्यधिक भीड हो जाती है। गदगी होने के कारण तथा मकानो की कमी के कारण मजदूरों का आर्थिक, शारीरिक तथा नैतिक पतन होता है। मशीनो पर काम करने मे मजदूरो की नाडी-क्रिया पर बुरा प्रभाव पडता है और उनका जीवन कम हो जाता है।

पूँजीवाद का उदय भी मशीनो के द्वारा उत्पादन का ही परिणाम है जिसके परिणामस्वरूप समाज मे भीषण आर्थिक विषमता उत्पन्न हो गई जो समाज के राजनीतिक तथा सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हानिकर है।

मशीन का कार्य नीरस तथा आनन्दविहीन है, उससे मनुष्य के मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पडता है।

अध्याय छठवां

कृषि में क्रान्ति

यह तो हम पहले ही कह आये है कि किस प्रकार मनुष्य ने शिकारी-जीवन से कृषि-जीवन मे प्रवेश किया। जब मनुष्य खेती करने लगा तो उसके सामने एक गम्भीर समस्या उपस्थित हुई। वह समस्या यह थी कि लगातार भूमि पर फसल उत्पन्न करने से उसकी उर्वरा शक्ति कम हो जाती थी और कालान्तर मे वह भूमि ऊसर हो जाती थी, खेती के योग्य नही रहती थी। जब तक जनसख्या कम थी और भूमि बहुत थी इस समस्या को हल करने की ओर किसी ने ध्यान नही दिया क्योकि एक भूमि का टुकडा यदि खेती के लिए व्यर्थ हो जाता तो दूसरे क्षेत्र मे खेती आरम्भ कर दी जाती और पहले वाली भूमि को परती छोड दिया जाता। समय पाकर उस परती छोडी हुई भूमि पर बनस्पति फिर उत्पन्न हो जाती और लम्बे समय के उपरान्त वह भूमि वनस्पति के कारण फिर उपजाऊ हो जाती। जब दूसरी भूमि पर पैदावार कम होने लगती तो पहली भूमि पर खडी बनस्पति को काट कर फिर उस भूमि पर खेती की जाने लगती। आज भी कतिपय पिछडी जातिया इस प्रकार की खेती करती है परन्तु जैसे-जैसे जनसख्या मे वृद्धि होती गई और भूमि की कमी अनुभव होने लगी वैसे-वैसे खेती की यह पद्धति अनुपयुक्त होती गई और भूमि का इस प्रकार अपव्यय करना सम्भव नही रहा।

मनुष्य ने भूमि को थोडा विश्राम देकर या फसलो का हेर-फेर करके भूमि की उर्वरा शक्ति को बनाये रखने का प्रयत्न किया परन्तु जनसख्या की वृद्धि के कारण भूमि को पर्याप्त विश्राम दे सकना भी सम्भव नही रहा। फसलो के हेर-फेर से उर्वरा शक्ति के ह्रास की गति को कुछ सीमा तक मद तो किया जा सकता है परन्तु उसे सर्वथा रोका नही जा सकता।

अस्तु, मनुष्य ने भूमि को खाद देना आरम्भ किया। पशुओ के गोबर तथा वनस्पति को सडा कर खाद बनाया जाता था और भूमि को दिया जाता था।

जब मनुष्य को खाद की उपयोगिता का ज्ञान हुआ और उसका उपयोग खेती मे होने लगा तब कही खेती एक निश्चित अवस्था में पहुंची और भूमि की उर्वरा शक्ति न घटने देने की समस्या एक सीमा तक हल हो गई। परन्तु खाद पर्याप्त मात्रा मे किस प्रकार प्राप्त की जावे यह समस्या मनुष्य के सामने उपस्थित हो गई। खाद को प्राप्त करने का एकमात्र साधन पशु थे, परन्तु अधिक सख्या में पशु पालना तभी सम्भव था कि जब चारे की समस्या को हल किया जावे। जनसख्या की वृद्धि के फलस्वरूप वनो को साफ कर दिया गया और पशुओ के लिए क्रमश चारे की कमी का अनुभव होने लगा। शीतप्रधान देशो मे जाडे मे अत्यधिक शीत या हिम पडने के कारण कोई फसल उत्पन्न नही की जाती थी, अतएव जाडे मे शीतप्रधान देशो मे पशुओ के लिए चारे का दुर्भिक्ष हो जाता था और शुष्क प्रदेशो मे ग्रीष्म काल मे चारे का दुर्भिक्ष पड जाता था। ठडे देशो में जाडे में और गरम और शुष्क प्रदेशो में ग्रीष्म काल मे भूमि पर घास इत्यादि उत्पन्न नही होती थी। अतएव चारे की समस्या भीषण रूप धारण कर लेती थी। पशुओ की आवश्यकता केवल खाद के लिए ही नहीं थी वरन् खेती की भिन्न-भिन्न क्रियाओ को करने के लिए भी थी। उधर जनसख्या बराबर बढती जा रही थी और भूमि की कमी थी। ऐसी दशा में वर्ष मे केवल एक फसल उत्पन्न करने से काम नही चल सकता था। 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' अतएव शुष्क प्रदेशो मे मनुष्य ने सिंचाई के साधन उपलब्ध किए, ऐसी फसलो को ढूढ निकाला जिन्हे बहुत कम जल की आवश्यकता थी। शीतप्रधान देशो मे ऐसी नई फसलो को पैदा किया जाने लगा जो जाडे के दिनो भी उत्पन्न की जा सकती थी। जब वर्ष में एक के स्थान पर दो फसले उत्पन्न की जाने लगी तो चारे की फसलो को भी उत्पन्न किया जाने लगा और पशुओ को यथेष्ट संख्या में पाला जाने लगा। परन्तु जब भूमि से

वर्ष मे दो फसलें उत्पन्न की जाने लगी तो भूमि की उर्वरा शक्ति को बनाये रखने के लिए खेती को वैज्ञानिक ढग से करने तथा उसमे यथेष्ट खाद देने की आवश्यकता अनुभव होने लगी।

औद्योगिक-क्रान्ति के फलस्वरूप जब बहु-जनसख्या वाले बडे-बडे औद्योगिक केन्द्र स्थापित हो गए तो एक तो नगरो की जनसख्या के लिए भोजन उत्पन्न करने के लिए तथा कारखानो के लिए कच्चा माल उत्पन्न करने के लिए गहरी खेती की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। अतएव, गहरी खेती का प्रारम्भ भी सर्वप्रथम इगलैण्ड में ही हुआ।

उस समय इगलैण्ड मे कतिपय उच्च वर्ग के व्यक्तियो ने खेती में सुधार करने का प्रयत्न किया। श्री जैथरो टल ने गहरी जुताई करके एक सरल मशीन द्वारा लाइन मे एक-सी दूरी पर बीज बोने का प्रयत्न किया। इससे पैदावार की बहुत वृद्धि हुई। विस्काउट टानशेन्ड ने नई फसलो का प्रचार किया जो कि शीतकाल मे भी उत्पन्न की जा सकती थी और राबर्ट बेकवेल ने भेड और गाय की नस्ल को सुधारा। उन्होने वैज्ञानिक ढग से पशुओ की नस्ल को सुधारने का प्रयत्न किया। आर्थर यग ने लेखनी के द्वारा कृषि की नवीन पद्धति का प्रचार किया तथा श्री होलखाम ने नवीन कृषि का व्यावहारिक रूप से प्रदर्शन करके उसका प्रचार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन में नवीन ढग से गहरी खेती का आरम्भ हो गया। बात यह थी कि क्योकि ब्रिटेन मे सर्वप्रथम औद्योगिक उन्नति हुई इस कारण वहा कृषि मे भी सर्वप्रथम क्रान्ति हुई और गहरी खेती का प्रादुर्भाव हुआ। जैसे-जैसे अन्य देशो में उद्योग-धधो का विकास होता गया, औद्योगिक केन्द्रो की स्थापना होती गई, वहा भी गहरी खेती का प्रचार होता गया।

जबकि अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड मे योरोप के निवासी जाकर बसने लगे तो एक बडी समस्या उठ खडी हो गई। इन महाद्वीपो में भूमि बहुत अधिक थी किन्तु उस पर खेती करने के लिए आदमी नही थे। इन महाद्वीपो में अत्यन्त उपजाऊ विशाल क्षेत्र बिना जुते पडे थे

किन्तु जनसंख्या की कमी के कारण उन पर खेती नही की जा सकती थी। श्रमशक्ति के अभाव के कारण इस बात की आवश्यकता का अनुभव होने लगा कि कृषि-यंत्रो का आविष्कार किया जावे कि जिनसे श्रम की बचत हो और थोडे से श्रम से बहुत बडे क्षेत्र पर खेती की जा सके। नवीन महाद्वीपो में खेती का विकास करने के लिए भूमि को जोतने, फसल को काटने तथा उसे गहाने की मशीनो का आविष्कार हुआ और इन कम जनसंख्या वाले उर्वर महाद्वीपो मे भी खेती का खूब विस्तार हुआ।

जैसे-जैसे योरोप मे उद्योग-धधो का विकास होता गया, तथा जनसंख्या में तेजी से वृद्धि होती गई, वैसे ही वैसे इस बात की आवश्यकता अनुभव होने लगी कि अधिक गहरी खेती करके भूमि से और अधिक उपज प्राप्त करनी चाहिए। यह तब तक संभव नही था जब तक कि तेज रासायनिक खाद के द्वारा भूमि को अधिक उर्वर न बनाया जाता। उसी समय जर्मनी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री लीबिग ने १८४० मे अपने अनुसधान के द्वारा यह खोज की कि पौधे के लिए पोटाश, नाइट्रोजन तथा फासफोरस की आवश्यकता होती है। यह खोज हो जाने के उपरान्त रासायनिक खाद का धंधा स्थापित हो गया और रासायनिक खाद उत्पन्न की जाने लगी। रासायनिक खाद के आविष्कार के फलस्वरूप योरोप के घने आबाद देशो में थोडी भूमि पर ही अधिक उपज की जा सकती थी।

कुछ समय तक नये देशो से खाद्यान्न तथा मास इत्यादि मगाकर योरोप के घने आबाद देश अपना काम चलाते थे। आज भी उत्तरी अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड से अनाज, मास तथा मक्खन इत्यादि घने आबाद देशो को जाता है। परन्तु बीसवी शताब्दी में संसार की जनसंख्या बहुत बढ गई। नये देशो में भी जनसंख्या में तेजी से वृद्धि होती गई। वहा भी भूमि की बहुलता नही रही। अतएव मानव समाज के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि औद्योगिक कच्चे पदार्थो को तथा भोजन को किस प्रकार उत्पन्न किया जावे।

इस समस्या को हल करने के लिए बीसवी शताब्दी में कृषि की बहुत

अधिक उन्नति की गई है। आज सभी उपजाऊ भूमि जोत ली गई है। केवल ऐसी भूमि जो कि पथरीली या कंकरीली थी, जिसमे अत्यधिक जल था, अथवा जो अत्यन्त शुष्क थी बच गई। अतएव आज ऐसी मशीनो का आविष्कार किया गया है जो कि पत्थर को तोड कर उसका चूरा कर देती है, जल को बहा कर या खीच कर नम भूमि को खेती योग्य बना देती है और अत्यन्त शुष्क भूमि को नहरें निकाल कर खेती योग्य बनाया जा रहा है। जो भमि ऐसी है जहा नहर की व्यवस्था नही की जा सकती और तालाब और कुएँ भी नही बनाये जा सकते, क्योकि तालाब और कुओ के योग्य वहा वर्षा ही नही, वहा 'सूखी खेती' का प्रयोग किया जा रहा है।

आज कृषि-विशेषज्ञो ने ऐसे बीज उत्पन्न कर लिये है जिनके द्वारा सायबेरिया जैसे अत्यन्त शीतप्रधान प्रदेश मे खेती हो सकती है और अत्यन्त शुष्क प्रदेश मे भी खेती की जा सकती है। मानव अपने भोजन को उत्पन्न करने के लिए तथा आवश्यक कच्चा पदार्थ उत्पन्न करने के लिए खेती मे नित्य नवीन सुधार करता जा रहा है। मनुष्य का आज प्रयत्न यह है कि भूमि से अधिक से अधिक पैदावार प्राप्त की जावे, पशुओ से अधिक से अधिक दूध, मास, ऊन प्राप्त किया जावे, मुर्गियो से अधिक से अधिक अण्डे प्राप्त किये जावे और मछलियो को अधिक से अधिक उत्पन्न किया जावे। मनुष्य का प्रकृति से अधिक से अधिक कच्चे पदार्थ और भोज्य पदार्थ प्राप्त करने का प्रयत्न अभी भी अनवरत रूप से चल रहा है।

खेती का स्वरूप

खेती की एक विशेषता यह है कि खेती में एक प्रकार की पैदावार नही होती, अनेक प्रकार की फसले उत्पन्न की जाती है। उदाहरण के लिए एक कारखाना एक ही वस्तु बनाता है किन्तु खेती मे अनेक फसलें उत्पन्न की जाती है। परन्तु खेती का एक दूसरा रूप भी है जिसमे एक ही फसल उत्पन्न की जाती है। उदाहरण के लिए चाय के बाग या गन्ने के फार्म। परन्तु अधिकतर देशो में मिश्रित खेती होती है और एक ही फार्म पर गेहू,

मक्का, गन्ना, कपास, दूध, अण्डे और फल तथा सब्जी उत्पन्न की जाती है। खेती मे विशेषीकरण के कुछ लाभ है और मिश्रित खेती के भी कुछ लाभ है। परन्तु अधिकतर मिश्रित खेती ही की जाती है।

विशेषीकरण का लाभ यह है कि यदि किसान अपने फार्म पर केवल एक वस्तु उत्पन्न करे तो उसे उस वस्तु के उत्पन्न करने में पूर्ण दक्षता प्राप्त हो जावेगी और उस फसल की बिक्री मे कम व्यय होगा। यदि किसान केवल एक वस्तु उत्पन्न करता है तो उस वस्तु के बाजारो, व्यापारियो से सम्बन्ध स्थापित हो जावेगा और उसका उचित मूल्य क्या है इसकी जानकारी प्राप्त हो जावेगी। फिर एक ही वस्तु को अधिक मात्रा मे विक्रय करने से बिक्री का व्यय कम होगा। विशेषीकरण मे एक लाभ यह होता है कि प्रत्येक भूमि या क्षेत्र किसी विशेष फसल या पैदावार के लिए विशेष रूप से उपयुक्त होती है।

परन्तु मिश्रित खेती के भी कुछ लाभ है जो विशेषीकरण से अधिक है। खेती मे भिन्न-भिन्न फसले उत्पन्न करने का एक बडा लाभ यह है कि उससे भूमि की उर्वरा शक्ति कम नही होती। भूमि पर अनवरत एक ही फसल उत्पन्न करने से भूमि की उर्वरा शक्ति शीघ्र नष्ट हो जाती है। जब किसान बहुत-सी फसले उत्पन्न करता है तो वर्ष भर कुछ न कुछ काम खेती मे रहता है। अस्तु, श्रम व्यर्थ नही जाता। विभिन्न फसलो को उत्पन्न करने का एक लाभ यह है कि फसलो के नष्ट होने का भय कम हो जाता है। खेती अनिश्चित धधा है, यदि किसान केवल एक ही फसल उत्पन्न करता है और यदि वह फसल किसी कारणवश नष्ट हो गई तो उसको अपार हानि उठानी पडती है। मिश्रित खेती का एक बड़ा लाभ यह है कि एक ही भूमि पर वर्ष मे दो बार फसले उत्पन्न की जा सकती है।

खेती मे इसी से मिलता-जुलता प्रश्न स्वावलम्बी खेती तथा व्यापारिक खेती का भी है। स्वावलम्बी खेती का अर्थ यह है कि किसान बाजार में बिक्री के उद्देश्य से मुख्यत. फसलें उत्पन्न नही करता वरन मुख्यतः वह अपने परिवार के उपयोग के लिए ही फसलें उत्पन्न करता है और जो वस्तु अपनी

आवश्यकता से अधिक होती है उसे बाजार मे बेच देता है। आज भी बहुत से देशो मे मुख्यत स्वावलम्बी खेती होती है।

स्वावलम्बी खेती में किसान का उद्देश्य अधिकतम लाभ न होकर परिवार का भरण-पोषण मात्र होता है। मिश्रित खेती के जो गुण-दोष हम ऊपर लिख चुके है वही गुण-दोष स्वावलम्बी खेती के है। स्वावलम्बी खेती का एक बडा गुण यह है कि आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी खेती करने वाला किसान अधिक स्वतत्र होता है और खेती की जोखिम कम हो जाती। अधिक अच्छा तो यह है कि किसान एक दो व्यापारिक फसलें उत्पन्न करे और अपने उपयोग के लिए मिश्रित खेती भी करे।

किन्तु गमनागमन तथा यातायात के साधनो के विकसित हो जाने से भिन्न-भिन्न देशो की दूरी समाप्त हो गई है और एक देश की खेती की पैदावार दूसरे देशो को सरलतापूर्वक भेजी जा सकती है। आज लदन का रहने वाला हालैण्ड की सब्जी पर निर्भर है, डेनमार्क का मक्खन ससार के प्रत्येक देश मे खाया जाता है, अर्जेनटाइन, कनाडा तथा अन्य देश गेहू विदेशो को भेजते है, आस्ट्रेलिया का किसान ऊन अपने लिए उत्पन्न न करके अन्य देशो के लिए ऊन उत्पन्न करता है और भारत की चाय अन्य देशो को जाती है। व्यापारिक खेती का अर्थ यह है कि किसान का मुख्य उद्देश्य बाजार मे बिक्री के लिए फसल उत्पन्न करना है। व्यापारिक खेती करने वाले किसान बाजार मे बिक्री के उद्देश्य से ही किसी फसल विशेष को उत्पन्न करते है और अपने लिए अनाज इत्यादि स्वय मोल लेते है। विशेषोपयोगी खेती ही व्यापारिक खेती का आधार है और स्वावलम्बी खेती का आधार उस प्रकार की खेती है जिसमे किसान विभिन्न प्रकार की फसलो को उत्पन्न करता है।

खेती की विशेषताए

खेती मुख्यत प्रकृति पर निर्भर रहती है। यदि वर्षा कम हो या अधिक हो, ओला पड जावे, या हानिकर वायु चलने लगे, फसल में कीडा

लग जावे, अथवा टिड्डी दल आ जावे तो किसान की सारी कुशलता और उसका श्रम चौपट हो जाता है। पशुओ की बीमारी का भी खेती के धधे पर भयकर प्रभाव पडता है। यही कारण है कि खेती एक अनिश्चित धधा है और खेती में सफलता केवल किसान की कुशलता और श्रम पर ही निर्भर नही है वरन प्रकृति देवी की कृपा पर भी बहुत कुछ निर्भर है।

खेती मे अन्य धधो की तुलना में यन्त्रो के उपयोग की कम सम्भावना है। इसका मुख्य कारण यह है कि खेती मौसमी धधा है। प्रत्येक क्रिया समय से केवल एक बार होती है। उदाहरण के लिए जुताई के उपरान्त ही बीज बोया जा सकता है इत्यादि। अतएव जुताई करने का जो यत्र होगा वह वर्ष में केवल कुछ दिनो ही काम देगा शेष समय वह बेकार खडा रहेगा। किन्तु एक कपडे की मिल ले लीजिए। उसमें धुनाई, कताई, बुनाई और रगाई विभाग की सब मशीनें एक साथ चलती रहती है और एक विभाग की तैयार की हुई वस्तु दूसरा विभाग उपयोग करता है। अतएव खेती के यत्र वर्ष में अधिकाश समय बेकार रहते है। इसके अतिरिक्त खेती के यत्र एक स्थान पर खडे रह कर काम नही कर सकते अस्तु मशीनो में ही चालक एजिन लगे हो तभी वह काम दे सकते है। चालक एजिन मशीनो में ही लगाने से मशीनो का मूल्य बहुत अधिक बढ जाता है, अन्यथा खेती के यत्रो मे पशुओ का उपयोग करना अनिवार्य हो जाता है। यान्त्रिक शक्ति के लाभ खेती को उस सीमा तक प्राप्त नही होते जिस सीमा तक फैक्टरियो मे प्राप्त होते हैं। इसका यह अर्थ भी कदापि नही है कि खेती में यत्रो के लिए कोई स्थान नही है। खेती की मुख्य-मुख्य क्रियाओ के लिए यंत्रो का आविष्कार हो चुका है परन्तु फिर भी ऐसी बहुत-सी क्रियाए है जो हाथ से ही करनी पडती है।

संसार मे यद्यपि गौण उद्योग-धधो में स्वतंत्र कारीगर का स्थान बडी मात्रा का उत्पादन करने वाले कारखानो या मिलो ने ले लिया है, परन्तु खेती में आज भी छोटे खेतो का प्राधान्य है। आज भी बहुधा देखने मे मिलता है कि पारिवारिक खेतो की ही बहुतायत है। अधिकाश देशो

मे आज भी परिवार के सदस्य ही खेतो पर काम करते है और विशेष अवसरो को छोड कर वे मजदूर नही रखते । इसका मुख्य कारण यह है कि खेती के धधे मे अपेक्षाकृत यत्रो का तथा यात्रिक शक्ति का उपयोग कम होता है। इसके अतिरिक्त एक विशाल फार्म की व्यवस्था और प्रबन्ध करना बहुत खर्चीला तथा कठिन होता है । खेती मे भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न कार्य करने पडते है। वह फैक्टरी की भाति एक ही क्रिया तो कर नही सकता इस कारण एक मजदूर एक दिन मे कितना कार्य करे उसका कोई माप-दण्ड निर्धारित नही हो सकता और न श्रम-विभाजन ही किया जा सकता है। खेती में निरीक्षण का व्यय बहुत अधिक होता है क्योकि विशाल फार्म पर क्रियाए भिन्न-भिन्न क्षेत्र में दूर-दूर होती है । श्रम-विभाजन ही बडी मात्रा के उत्पादन का प्राण है, अतएव खेती मे बडी मात्रा का उत्पादन उतना लाभदायक नही है जितना गौण धधो में। यही कारण है कि खेती आज भी छोटी मात्रा मे ही अधिक होती है । सयुक्तराज्य अमेरिका मे जहा पहले बहुत बडे फार्म थे वहा आज मध्यम आकार के फार्मों का चलन है । किसान आज भी स्वतत्र है ।

आर्थिक दृष्टि से जो वर्ग स्वतत्र है, दूसरो पर निर्भर नही रहता, वही निर्भीक और स्वाभिमानी होता है और देश की सस्कृति की रक्षा कर सकता है। यही कारण है किसी देश का किसान वर्ग ही उस देश की परम्पराओ का पोषक होता है और वहा की सस्कृति का रक्षक होता है । यही नही, सबल और समृद्धिशाली किसान वर्ग किसी देश के राजनीतिक जीवन को स्थायित्व प्रदान करने के लिए नितान्त आवश्यक है । जिस देश का किसान वर्ग पतित-अवस्था मे है वह देश कभी भी राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से उन्नति नही कर सकता। भारत सरकार ने इस तथ्य को समझ लिया है। तभी देश की सारी शक्ति ग्रामो के विकास की ओर लगी हुई है।

खेती से एक बडा लाभ यह है कि खेती मे लगे हुए लोगो में एक बडे और समृद्धिशाली परिवार के निर्माण की भावना काम करती है। किसान

परिवार में प्रत्येक व्यक्ति फिर चाहे वह वृद्ध बालक या स्त्री हो क्यो न हो धनोत्पत्ति में सहायक हो सकता है और वह परिवार पर भार बन कर नही रहता । खेती मे सब प्रकार की क्रियाए होती है जो कि परिवार के लोगो की क्षमता के अनुसार आपस मे बाटी जा सकती है । यही कारण है कि खेती के धंधे मे लगे हुए लोग एक आदर्श और समृद्धिशाली तथा प्रतिभावान परिवार का निर्माण कर सकते हैं । गाव एक प्रकार से जनसख्या की नर्सरी हैं जहा जनसख्या अनुकूल वातावरण और परिस्थिति मे पनपती है और औद्योगिक केन्द्र उस जनसख्या को लेकर निस्तेज और क्षीण करते रहते हैं । अतएव किसी जाति की शक्ति और प्रतिभा को अक्षुण बनाये रखने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि खेती की उन्नति हो और ग्राम संस्था सबल हो ।

अध्याय सातवां

व्यापारिक-क्रान्ति

यदि देखा जावे तो मानव के आर्थिक विकास की कथा बहुत कुछ गमनागमन तथा यातायात के साधनो के विकास के साथ सम्बद्ध है। जैसे-जैसे गमनागमन तथा यातायात का विकास होता गया वैसे-ही-वैसे आर्थिक प्रयत्नो के क्षेत्र का विस्तार होता गया और आज समस्त ससार एक विशाल बाजार बन गया है। यदि हम ध्यान से देखें तो हमारा आर्थिक विकास तीन कालो मे विभाजित किया जा सकता है।

प्रथम काल तो वह था जबकि आर्थिक जीवन स्थानीय था। गमनागमन के साधन तथा यातायात के साधन प्राय नही थे। गाव और कस्बे स्वावलम्वी थे। यदि थोडा व्यापार होता था तो कतिपय गावो के समूह के अन्तर्गत होता। किसी बीच के बडे गाव या कस्बे मे साप्ताहिक पैठ या हाट लगती थी। अधिकाश किसान अपने उपयोग के लिए आवश्यक वस्तुए उत्पन्न कर लेते थे और गाव के कारीगर आवश्यक वस्तुए तैयार कर लेते थे। परन्तु गाव की आवश्यकता से यदि कारीगरो ने कुछ अधिक वस्तुए या किसानो ने कुछ अधिक अनाज उत्पन्न कर लिया है तो उसको बेचने का प्रश्न उपस्थित होता था। उस कस्बे के आस पास के लोग वहा आते और उन वस्तुओ का क्रय-विक्रय होता था। जिस बडे कस्बे या नगर में बाजार लगता था वहा जनसख्या अधिक होने के कारण उन्हे अनाज मोल लेना पडता था और अन्य वस्तुओ की आवश्यकता होती थी। माल अधिकतर मनुष्य अपने सर या पीठ पर लाद कर, अधिक होने की दशा में घोडे, ऊट, गदहे या अन्य पशुओ पर लाद कर लाया करता था। जहा कि पहाडी प्रदेश नही होता और समतल भूमि होती वहा गाडियो में भी माल भर कर लाया जाता था। उस समय सडको का अभाव था अतएव कच्चे

रास्ते थे और इस कारण गाडियो से भी बहुत अधिक माल दूरी तक नही ले जाया जा सकता था। ऐसी दशा मे व्यापार बहुत थोड़े क्षेत्र में ही सीमित रहता था और वह केवल स्थानीय था।

जब पक्की सड़को को बनाने का आविष्कार हुआ और नदियो और नहरो का उपयोग किया जाने लगा तो समस्त देश एक इकाई बन गया। उस समय सारा देश एक आर्थिक इकाई था और उसको स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न किया जाता था। यद्यपि हवा द्वारा चलने वाले समुद्री जहाजो के कारण अत्यन्त प्राचीन काल मे भी भिन्न-भिन्न देशो मे थोडा व्यापार होता था परन्तु फिर भी मुख्यत एक देश ही आर्थिक इकाई था।

रेलो तथा भाप से चलने वाले समुद्री जहाजो के आविष्कार के फल-स्वरूप समस्त पृथ्वी एक आर्थिक इकाई बन गई। तदुपरात मोटर के आ-विष्कार के कारण सडके भी अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग बन गई। वायुयान के आविष्कार के फलस्वरूप भिन्न-भिन्न देशो की दूरी कम हो गई और सदेश-वाहक साधनो जैसे बेतार का तार, केबिल, रेडियो तथा डाक के कारण सभी देश एक सूत्र मे बध गये और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत बढ गया। वास्तव मे व्यापारिक क्रान्ति गमनागमन तथा यातायात के साधनो तथा सदेशवाहक साधनो के विकास की देन थी। अस्तु, हम उसके सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक अध्ययन करेगे।

सड़कों का विकास

अठारहवी शताब्दी के पूर्व तक आधुनिक उद्योग-धधो के जन्म-स्थान ब्रिटेन मे भी सडके बहुत बुरी दशा में थी। वे पहियेदार गाडी के सर्वथा अयोग्य थी। केवल उन पर पशुओ द्वारा माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जाता था और घोडे की पीठ पर बैठ कर ही लोग एक स्थान से दूसरे स्थान को जाया करते थे। उस समय इन कच्ची सडको की मरम्मत राज्य उन गावो के निवासियो से श्रम करवा कर जिनमे होकर सडक निकलती थी, करता था। सत्रहवी शताब्दी में यद्यपि पहियेदार गाडियो

का चलन आरम्भ हो गया था परन्तु फिर भी वे अधिक प्रचलित नही हुई थी। लगभग यही स्थिति अन्य देशो की थी। सभी देशो मे सडको की दशा अत्यन्त खराब थी। जब कि औद्योगिक-क्रान्ति हुई और नये कारखानो के लिए बहुत बडी राशि मे कच्चा माल गाडियो मे भर भर कर आने लगा और बहुत बडी राशि मे तैयार माल कारखानो से निकलने लगा तो सडको की स्थिति दयनीय हो गई और उनमे बडे-बडे गडहे हो गये।

औद्योगिक-क्रान्ति के फलस्वरूप ब्रिटेन मे जो बडी मात्रा का उत्पादन आरम्भ हुआ और फैक्टरिया स्थापित हुई उसके कारण सडको के सुधार की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। अस्तु, कुछ व्यक्तियो ने पार्लिया-मेंट से ऐक्ट बनवा कर किसी सडक विशेष का निर्माण करने तथा उनकी मरम्मत करने का एकाधिकार प्राप्त कर लिया। यह ट्रस्ट कहलाते थे। ट्रस्ट के मालिक सडक को पहियेदार गाडियो के चलने योग्य बना देते थे और उनकी मरम्मत करते रहते थ। इन ट्रस्टो के मालिक अपनी सडक का उपयोग करने वालो से कर वसूल करते थे। परन्तु इसमें तनिक भी सदेह नही कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत सडको का सुधार हुआ और वे पहियेदार गाडियो के चलने योग्य बन गईं। यदि उस समय सडको का सुधार न किया जाता तो औद्योगिक-क्रान्ति की गति और भी धीमी हो जाती। गावो की सडके उस समय भी गाव वालो के श्रम से ही तैयार करवाई जाती थी और उनकी दशा पहले जैसी ही दयनीय थी।

फ्रास तथा अन्य योरोपीय देशो मे राज्य सडको की ओर अधिक ध्यान देता था परन्तु महत्वपूर्ण नगरो को जोडने वाली सडको की दशा कुछ अच्छी रहती, शेष सडके पहियेदार गाडियो के लिए व्यर्थ थी। भारत मे सडको का निर्माण अत्यन्त प्राचीन काल मे हुआ। ग्राड ट्रक सडक महान अशोक के काल मे निर्मित हुई परन्तु गावो की सडको की स्थिति वैसी ही दयनीय थी जैसी कि ब्रिटेन की सडको की। परन्तु ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति केवल सडको के द्वारा ही सफल नही हो सकती थी। कारण यह था कि सड़को द्वारा कोयला शीघ्रतापूर्वक और कम व्यय में औद्योगिक केन्द्रो

तक नहीं पहुंचाया जा सकता था। औद्योगिक उन्नति के फलस्वरूप औद्योगिक केन्द्रों में कोयले की माग बहुत अधिक बढ गई। कोयला गाडी या पशुओ के द्वारा ले जाने मे बहुत व्यय होना था और समय भी अधिक लगता था। १७५० के उपरान्त लोहे को गलाने की वैज्ञानिक क्रिया ज्ञात हो गई और लोहे का धधा आश्चर्यजनक गति से विकसित हुआ। अतएव कोयले की माग और अधिक बढ गई। इसके अतिरिक्त चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने का धंधा भी तेजी से विकसित हुआ। उसके लिए मिट्टी तथा कोयले की बहुत आवश्यकता होती। भाप के ऐंजिनो के अधिकाधिक उपयोग किए जाने से भी कोयले की माग मे बहुत वृद्धि हुई। कोयले के अतिरिक्त औद्योगिक कच्चे माल को भी औद्योगिक केन्द्रों तक ले जाने के लिए केवल सडकें तथा पशु पर्याप्त सस्ते साधन नहीं थे। उद्योगो की इस अनिवार्य आवश्यकता को पूरा करने के लिए ब्रिटेन मे नहरो का निर्माण हुआ। इसमें तनिक भी सदेह नहीं कि यदि ब्रिटेन में नहरो का निर्माण न हुआ होता तो फैक्टरिया बडी फैक्टरिया न होकर छोटी-छोटी वर्कशाप होती। १७६० से १८३० के काल मे नहरे ही ब्रिटेन की मुख्य यातायात की साधन थी। इस काल मे ब्रिटेन की औद्योगिक उन्नति मुख्यत. नहरो पर ही निर्भर थी। उस समय ब्रिटेन मे नहरो का एक जाल बिछ गया था और प्रत्येक नगर और कस्बा नहरो से जुडा हुआ था। इस कारण माल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने मे सुविधा होती थी और व्यय भी कम होता था। देखते-देखते देश मे सैकडो नहर-कम्पनिया स्थापित हो गई। परन्तु यह कम्पनिया माल लाने-ले जाने का कार्य नही करती थी, वे तो सडको की भाति केवल जलमार्ग की व्यवस्था कर देती थी। कोई भी व्यक्ति कम्पनी को निर्धारित शुल्क देकर अपनी नाव को नहर में ले जा सकता था।

नहरो के बन जाने से यातायात तथा गमनागमन की सुविधा बहुत बढ गई। एक स्थान से दूसरे स्थान को माल लाने-लेजाने का केवल व्यय ही नहीं घट गया वरन् समय की भी बहुत बचत हो गई। तत्कालीन लेखो से

ज्ञात होता है कि लदन से लीड्स तक माल सडक के द्वारा ले जाने में तीन सप्ताह लगते थे और प्रति टन ४ पौंड १० शिलिंग व्यय आता था। वह तीन दिन में १६ शिलिंग भाडे में नहरो द्वारा पहुचाया जा सकता था। सच तो यह है कि नहरो ने औद्योगिक-क्रान्ति की गति को बहुत तीव्र कर दिया।

योरोपीय देशो में भी जलमार्गो का उपयोग हुआ। राइन, रोन, डैन्यूब आदि नदियो और उनकी नहरो का उपयोग व्यापार के लिए किया जाता था। भारत मे गंगा, ब्रह्मपुत्र तथा सिधु इत्यादि महानदो की सहायक नदियो का उपयोग भी व्यापार के लिए किया गया किन्तु भारत में प्राचीन तथा मध्यकाल मे नहरो का उपयोग जलमार्ग के रूप में नही हुआ, यहा तो नहरे केवल सिचाई के काम आती थी।

ब्रिटेन मे नहरो के विकास का परिणाम यह हुआ कि भाडा एक चौथाई हो गया। औद्योगिक कच्चा माल, कोयला तथा अन्य कम मूल्यवान भारी माल भी बहुत बडी राशि मे एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जाने लगा। १८३० के उपरान्त नहरो की उपयोगिता कम हो गई क्योकि रेलो के बन जाने से नहरो का उपयोग कम होने लगा। आगे चलकर बहुत-सी रेलवे कम्पनियो ने नहरो की कम्पनियो को मोल ले लिया जिससे कि उनकी प्रतिस्पर्द्धा कम हो जावे। फिर भी १९०० तक नहरो का यथेष्ट उपयोग माल ले जाने के लिए होता रहा।

रेलवे

जिस प्रकार ब्रिटेन मे सडको तथा नहरो का निर्माण निजी कम्पनियो ने किया उसी प्रकार रेलवे के निर्माण में राज्य न कोई भाग नही लिया। जब देश मे औद्योगिक उन्नति चरम सीमा पर पहुच गई और कल्पनातीत औद्योगिक कच्चा माल कारखानो तक लाने और कारखानो से तैयार माल ले जाने के लिए अधिक सुविधाजनक तथा शीघ्रगामी यातायात के साधनो की आवश्यकता पडी तो रेलवे का निर्माण हुआ। सच तो यह

है कि १८५० के उपरान्त नहरो की यातायात की क्षमता से औद्योगिक उन्नति आगे निकल गई थी। अतएव ब्रिटेन मे निजी कम्पनियो की स्थापना हुई और उन्होंने रेलवे निर्माण का कार्य करना आरम्भ कर दिया। ब्रिटेन में जहा रेलवे निर्माण का कार्य निजी कम्पनियो ने किया वहा फ्रास, जर्मनी, तथा अन्य योरोपीय देशो मे रेलवे का निर्माण राज्य द्वारा हुआ क्योकि वहा सडको तथा नहरो का निर्माण भी राज्य द्वारा हुआ था।

आरम्भ मे ब्रिटेन मे रेलो का घोर विरोध हुआ। रेलो को ब्रिटेन मे अनिष्टकारी और भयकर माना जाता था। अतएव जब निजी कम्पनियो ने राज्य मे रेल निर्माण की आज्ञा मागी तो तीव्र विरोध के कारण पार्लियामेंट को एक जाच कमेटी बिठाई गई। पार्लियामेंट मे मैंचेस्टर-लिवरपूल रेलवे विधेयक (बिल) का विरोध करते हुए जो नीचे लिखे तर्क उपस्थित किए गए वे बहुत मनोरजक है। विरोधियो ने 'हसकिसन' का जो इस विधेयक को पार्लियामेंट में उपस्थित कर रहे थे विरोध करते हुए कहा, "उनका क्या होगा जिन्होंने सडको को बनाने तथा नहरो का निर्माण करने मे अपनी पूजी लगाई है ? उनका क्या होगा जो अपने पूर्वजो की भाति अपनी निज की अथवा किराये की घोडागाडियो मे यात्रा पसद करते है ? गाडिया बनाने वालो, जीन और काठी बनाने वाले कारीगरो, साइसो, सराय वालो, घोडो को सिखाने वालो तथा घोडो के व्यापारियो तथा घोडो की नस्ल उत्पन्न करने वालो का क्या होगा ? क्या वे बेकार नही हो जावेंगे ? ग्राम्य-जीवन की शान्ति, सुन्दरता और आराम नष्ट हो जावेगा। क्या पार्लियामेंट के सदस्य जानते हैं कि रेलो के ऐंजिन जो काला धुआ छोडेंगे और उनके चलने से जो भयकर शोर होगा उससे तथा ऐंजिनो की सीटी की तेज आवाज से लोगो को रहना कठिन हो जावेगा। खेतो मे काम करते हुए तथा चरागाहो में घूमते हुए घोडे और पशु भयभीत हो कर भाग जाया करेंगे। यदि रेलो को निकालने की आज्ञा दी गई तो किसान, जमीदार, पशु पालने वाले और दूध का धधा करने वाले सशस्त्र विद्रोह कर देंगे और देश मे अराजकता फैल जावेगी। रेलो के लिए लोहे की इतनी अधिक आवश्यकता

होगी कि लोहा बहुत महगा हो जावेगा और शीघ्र ही लोहे की खाने समाप्त हो जावेगी। रेलो का निर्माण देश के शान्तिमय तथा आरामदायक जीवन तथा सौन्दर्य को नष्ट कर देगा। सच तो यह है कि मनुष्य ने कभी भी ऐसी विनाशकारी और अशोभनीय वस्तु का आविष्कार नही किया था।"

पार्लियामेंट में रेलो के निर्माण का विरोध करते हुए जो भाषण दिए गए वे यदि आज पढ़े जावे तो किसी को भी हसी आये बिना नही रह सकती। परन्तु उस समय बहुत लोग रेलो को अत्यन्त हानिकर तथा विनाशकारी समझते थे। कुछ सदस्यो ने अपने भाषण मे रेलो का विरोध करते हुए कहा, "ग्रामवासियो को यह जान लेना चाहिए कि स्वच्छद आकाश में उडने वाले पक्षी इस प्रलयकारी रेलवे ऐंजिन के धुए से झुलस कर गिर जाया करेंगे, सर्वसाधारण को यह न भूल जाना चाहिए कि यह बोझिल ऐंजिन और डिब्बे पृथ्वी में धँस जाया करेगे और गाडी उन्हे यात्रा के मध्य में निर्जन स्थानो पर छोड दिया करेगी। किसानो तथा उद्योगपतियो को यह याद रखना चाहिए कि रेलवे ऐंजिन से निकली हुई चिनगारिया खेती की फसल को और कारखानो में पडे माल को जला कर राख कर देगी। यात्रियो को सम्बोधित करते हुए उन्होने कहा कि उनके जीवन रेलो से यात्रा करने से सुरक्षित नही रहेंगे। उनके जीवन को तथा शरीर को रेल के कारण भयानक खतरा उत्पन्न हो जावेगा। बच्चो, वृद्धो का चलना असम्भव हो जावेगा। वे कुचल कर मर जावेंगे। घोडे रेल के भयानक शोर से भडक जाया करेंगे और अपने सवारो को पीठ पर से फेंक दिया करेंगे। घोडो की नस्ल ही समाप्त हो जावेगी अतएव ओट और घास उत्पन्न करने वाले किसानो का धधा ही नष्ट हो जावेगा। जहा-जहा से रेल निकलेगी उसके समीपवर्ती गावो में गायें दूध देना बन्द कर देगी और जहा-जहा से रेल निकलेगी वहा की भूमि बजर और ऊसर हो जावेगी, उस पर वनस्पति उत्पन्न नही हो सकेगी। इसका परिणाम यह होगा कि रेलवे के समीप जो भी भूमि होगी उसका कोई मूल्य नही रहेगा।" कुछ विरोधियो ने पार्लियामेंट को चेतावनी दी कि "रेलवे के निकलने से समीपवर्ती स्थानो में गर्भवती

स्त्रियो के गर्भ गिर जावेंगे और उसके विषैले धुए से समस्त देश का स्वास्थ्य नष्ट हो जावेगा। रेलो के निकलने से ऐसा भयकर विनाश का दृश्य उपस्थित होगा जिसकी मनुष्य को कभी कल्पना भी नही थी।"

जब रेलो का ऐसा तीव्र विरोध था तो उनका निर्माण सरल नही था। रेलवे कम्पनिया भरसक प्रयत्न करती किन्तु पार्लियामेंट से विधेयक पास करवाने में बहुत समय और बहुत व्यय होता। मैचेस्टर-लिवरपूल रेलवे का विधेयक पार्लियामेंट से स्वीकृत करवाने मे कम्पनी को सत्तर हजार पौंड व्यय करने पडे तब जाकर रेलवे निकालने की आज्ञा प्राप्त हुई। परन्तु उस आज्ञा के साथ यह शर्त लगा दी गई कि जो नगर या कस्बे नही चाहे उनके पास से रेल न निकाली जावे।

रेलो का घोर विरोध होते हुए भी यातायात की सुविधा प्रदान करने के लिए तेजी से रेलो का निर्माण हुआ। आरम्भ मे रेलवे कम्पनियो ने नहरो या सडको की भाति ही रेल की व्यवस्था की। कोई भी व्यापारी निर्धारित शुल्क देकर अपने डिब्बो मे माल भर कर कम्पनी को दे देता और कम्पनी उसके डिब्बो को गन्तव्य स्थान पर पहुचा देती थी। यही कारण था कि आरम्भ में ब्रिटेन में रेलवे कम्पनियो के डिब्बे कम थे और व्यापारियो के निजी डिब्बे बहुत अधिक थे। १९१३ मे भी रेलवे कम्पनियो के केवल ७ ८९,५१९ डिब्बे थे, जबकि व्यक्तिगत डिब्बो की सख्या ७,८०,२०० थी। कोई भी व्यापारी अपने डिब्बो को लेकर और एक ऐंजिन को लेकर अपनी गाडी चला सकता था। परन्तु शीघ्र ही यह अनुभव होने लगा कि यह व्यवस्था ठीक नही है कि व्यक्तियो को अपनी निजी ट्रेनें चलाने की अनुमति दी जावे। अतएव भविष्य में ऐंजिन तो कंपनियो के ही रहते थे, हा, यदि कोई व्यापारी चाहे तो अपने डिब्बे रख सकता था।

विरोध के होते हुए भी रेलो के निर्माण का व्यवसायियो और व्यापारियों का आग्रह इसलिए था कि नहरें बढते हुए व्यापार तथा व्यवसाय को पर्याप्त यातायात की सुविधाएँ उपलब्ध नही कर पाती थी। कालान्तर में रेलो का निर्माण अवश्यंभावी था। कोई भी विरोध उनको रोक नही सकता था।

किन्तु ब्रिटेन मे जो रेलो का आविर्भाव बहुत जल्दी हुआ, उसका एक मुख्य कारण यह था कि नहरो की कपनियो ने भाडा बहुत ऊँचा लेना प्रारम्भ कर दिया था और माल गन्तव्य स्थान तक पहुँचने में बहुत समय लग जाता था। आरम्भ मे जो रेलो का निर्माण हुआ, वह मुख्यत माल के यातायात के उद्देश्य से हुआ था। रेलवे कम्पनियो को स्वय भी यह कल्पना नही थी कि वे यात्रा का भी महत्वपूर्ण साधन बन जावेगी।

१८२१ मे स्टाकटन और डार्लिग्टन रेलवे कम्पनी की स्थापना हुई। यही प्रथम रेलवे थी जिसने ऐंजिन का ट्रेन को ले जाने मे उपयोग किया। १८२५ में रेलवे लाइन बन कर तैयार हुई। मालगाडी को ऐंजिन से चलाया जाता था और यात्रा गाडी को घोडे खीचते थे। परन्तु १८२६ में जब मैंचेस्टर-लिवरपूल रेलवे कम्पनी को रेलवे लाइन डालने की आज्ञा प्राप्त हुई और १८३० में वह रेलवे लाइन बन कर तैयार हुई तो लोगो को यह ज्ञात हुआ कि रेलवे माल के यातायात तथा यात्रियो की यात्रा के लिए कितना शीघ्रगामी और सुलभ साधन है। वास्तव में मैंचेस्टर-लिवरपूल रेलवे लाइन बन जाने पर ही नहरो को वास्तविक प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पडा। मैंचेस्टर-लिवरपूल रेलवे नहरो के लिए भयकर चुनौती सिद्ध हुई।

अन्य रेलवे कम्पनियो की भाति मैंचेस्टर-लिवरपूल रेलवे को भी ऐंजिन या घोडो से रेल को चलाने की आज्ञा प्राप्त हुई थी। परन्तु कम्पनी ने ऐंजिन से ही ट्रेनो को चलाने का निश्चय किया और सर्वोत्तम रेलवे ऐंजिन के लिए ५०० पौण्ड का पारितोषिक घोषित किया। १८२९ मे 'रेनहिल' नामक स्थान पर भिन्न-भिन्न आविष्कर्ताओ द्वारा अपने ऐंजिनो का प्रदर्शन हुआ। जार्ज स्टीफेंसन के 'राकेट' ऐंजिन को सर्वोत्तम घोषित किया गया और कम्पनी ने उसका उपयोग करना आरम्भ कर दिया। जब रेलो का निर्माण किया जा रहा था तब किसे ज्ञात था कि जो यातायात का साधन कोयला, मिट्टी, खनिज पदार्थ, औद्योगिक कच्चे माल तथा कारखानो में बने तैयार माल को ढोने के लिए बनाया जा रहा है, वह मानव जैसे मूल्यवान् पदार्थ को ले जाने के लिए सर्वोत्तम सिद्ध होगा और उसके फलस्वरूप व्यापारिक क्राति हो

जावेगी। मैंचेस्टर-लिवरपूल रेलवे लाइन की अभूतपूर्व सफलता ने अन्य रेलवे कम्पनियो को जन्म दिया, और ब्रिटेन मे नये रेल-पथो की बाढ-सी आ गयी। देखते-देखते समस्त देश मे रेल-पथो का एक जाल बिछ गया।

जब रेलो का निर्माण होने लगा तो नहरो की कम्पनियो ने नहरो के याता-यात मे सुधार किया और रेलो से गलाकाट-प्रतिस्पर्द्धा करना आरम्भ की। अतएव जहा तक माल ढोने का प्रश्न था, आरम्भ में रेले नहरो की प्रतिस्पर्द्धा में अधिक सफल नही हुई, परन्तु यात्रियो के लिए रेले बहुत सुविधाजनक प्रमाणित हुई और उनकी अधिकाश आय यात्रियो के द्वारा प्राप्त होती थी। यात्रियो से मिलने वाले लाभ के कारण रेले सफल हो गई। कुछ समय के उपरान्त रेलो में सुधार होने के कारण वे माल ढोने में भी नहरो की अपेक्षा अधिक सस्ती और सुलभ हो गई और नहरो का महत्त्व कम होने लगा। बहुत-सी रेलवे कम्पनियो ने नहरो की कम्पनियो को खरीद लिया और इस प्रकार नहरो की प्रतिस्पर्द्धा समाप्त हो गई। १९०० तक ब्रिटेन मे रेले माल ढोने तथा यात्रियो को ले जाने की सर्वोत्तम साधन बन गई।

योरोप के अन्य देशो मे राज्यो ने सडको, नहरो तथा रेलो का विकास स्वय किया। उन्होने यातायात तथा गमनागमन के साधनो का विकास निजी कम्पनियो के हाथ मे नही छोडा। इसी कारण फ्रास, जरमनी तथा बैलजियम में नहरो और रेलो की प्रतिस्पर्द्धा नही हुई वरन् नहरो को रेलो के सहायक के रूप में निर्माण किया गया। सयुक्त राज्य अमेरिका मे आरम्भ मे तो राज्य ने निजी कम्पनियो को ही रेलो का निर्माण करने की आज्ञा प्रदान की परन्तु शीघ्र वहा यह अनुभव होने लगा कि सयुक्त राज्य अमेरिका जैसे विशाल देश की आर्थिक उन्नति के लिए रेलो का विस्तार शीघ्रतापूर्वक होना आवश्यक है। अस्तु, बाद मे राज्य ने रेलो का निर्माण कार्य अपने हाथ में ले लिया। भारत मे रेलो का प्रादुर्भाव १८६० के उपरान्त हुआ और आरम्भ मे ब्रिटेन में स्थापित रेलवे कम्पनियो को भारत मे रेलवे का निर्माण करने का एका-धिकार सौंप दिया गया। यही कारण था कि १९२४ तक भारत में अधिकाश रेलवे लाइनें कम्पनियो के अधीन थी। क्रमशः संसार के अन्य देशो में रेलो

का विस्तार हुआ।

रेलो के प्रादुर्भाव से ओद्योगिक-क्रांति पूर्ण रूप से सफल हुई और उसके परिणामस्वरूप व्यापारिक क्रांति हुई। उसी समय समुद्री जहाजो मे भी बहुत उन्नति हुई। पाल के जहाजो के स्थान पर भाप से चलने वाले समुद्री जहाजो का निर्माण होने लगा। यह जहाज लोहे के बने हुए होते थे, वे हजारो टन माल एक साथ ले जा सकते थे और उनकी गति बहुत तीव्र होती थी। यह शीघ्र-गामी स्टीमर बहुत कम समय में ससार के एक देश से यात्रियो और माल को हजारो मील दूर पहुँचा देते थे। हवा से चलने वाले समुद्री जहाजो में समय बहुत लगता था। यदि हवा का रुख विपरीत हुआ तो उन जहाजो को हवा अनुकूल हो, तब तक ठहरना पडा था। किन्तु शक्तिवान् स्टीमर हवा के प्रतिकूल होने पर भी चल सकता था अतएव समुद्री जहाज में सुधार होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत बढ गया। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति करने के लिए "स्वेज नहर", 'पनामा नहर" तथा "सू-नहर" बनाई गई, जिनके कारण हजारो मील का लम्बा चक्कर बच गया और विदेशी व्यापार आश्चर्यजनक गति से बढा। भाप से चलने वाले लोहे के विशाल स्टीमरो का आविष्कार करने का श्रेय भी ब्रिटेन को ही हैं।

व्यापारिक क्रान्ति

रेलो के विस्तार तथा स्टीमर के आविष्कार ने व्यापारिक क्रान्ति कर दी। उससे पूर्व मुख्यत व्यापार स्थानीय था और जो थोडा बहुत स्थानीय व्यापार होता था वह निर्धारित समय पर ही हो सकता था। प्रत्येक समय व्यापार नही होता था। अठारहवी शताब्दी के पूर्व वार्षिक मेले या साप्ताहिक बाजार (हाट) ही व्यापार के मुख्य साधन थे। रेलवे तथा स्टीमर के आविष्कार के कारण समय और दूरी की बाधाएँ दूर हो गई और व्यापार का अनवरत प्रवाह बहने लगा। बाजार का क्षेत्र बढने लगा और आज तो सपूर्ण पृथ्वी एक बाजार बन गई है। साप्ताहिक हाट और वार्षिक मेले समाप्त हो गए और उनका महत्त्व जाता रहा और उनका स्थान अन्य व्यापारिक

संस्थाओं ने ले लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यापार की प्रणाली में वैसा ही क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया जैसा कि कृषि तथा उद्योग-धंधों में हुआ था। हम यहाँ इस व्यापारिक क्रांति का चित्र उपस्थित करेंगे।

अठारहवीं शताब्दी में व्यापार मुख्यतः साप्ताहिक हाटों में होता था। साप्ताहिक हाट में स्थानीय व्यापार होता था और उस समय ७५ प्रतिशत व्यापार स्थानीय ही होता था। प्रत्येक कस्बे में साप्ताहिक बाजार लगती थी जिसमें समीपवर्ती गाँवों के किसान, कारीगर अपनी-अपनी वस्तुओं को लाकर उस कस्बे अथवा नगर के रहने वालों को बेच देते थे। आज की भाँति कोई दूकान नहीं थी। गृह-स्वामिनी अपनी गृहस्थी की सारी आवश्यक वस्तुएँ इन साप्ताहिक हाटों से खरीदती थी। कभी-कभी कोई घूमता हुआ व्यापारी घरों पर आकर अपनी वस्तु बेच जाता था। मेले वार्षिक अथवा अर्द्ध-वार्षिक होते थे, उनमें वस्तुएँ दूर-दूर से आती थीं और उनमें खरीदार भी एक स्थान के न होकर दूर-दूर से आते थे। मेले राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के होते थे। अतएव मेले व्यापार के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण थे। उस समय क्योंकि एक समय पर ही वस्तुओं को खरीदा जा सकता था, अतएव प्रत्येक गृह-स्वामिनी यथेष्ट मात्रा में वस्तुओं का संग्रह करके रखती थी और यही कारण था कि प्रत्येक घर में एक बड़ा भंडार-घर होता था। परन्तु आज तो गृह-स्वामिनी को अधिक वस्तुओं के संग्रह की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि समीप की दूकान ने यह कार्य अपने ऊपर ले लिया है। गृह-स्वामिनी को जब भी आवश्यकता होती है, वह वस्तु को समीपवर्ती दूकान से ले लेती है।

अस्तु, अठारहवीं शताब्दी में साप्ताहिक हाट स्थानीय व्यापार की संस्था थी और वार्षिक मेले राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संस्था थी। इन मेलों में देश-देश के व्यापारी अपना माल लेकर आते थे। उस समय नमूना दिखा कर माल खरीदने की प्रथा नहीं थी। अस्तु, व्यापारियों को अपना माल पशुओं पर लाद कर लाना पड़ता था। अतएव, केवल बहुमूल्य और हल्की वस्तुओं का ही मेले में व्यापार होता था। हाट और मेलों के अतिरिक्त चलते-फिरते व्यापारी भी अपने माल को घोड़ों की पीठ पर लाद कर गाँवों

तथा कस्बो में बेचते फिरते थे ।

यातायात तथा गमनागमन के साधनो मे क्रातिकारी परिवर्त्तन होने के कारण हाट, मेले और घूमने वाले व्यापारी का महत्त्व समाप्त हो गया और उसके स्थान पर नई व्यापारिक सस्थाओ का उदय हुआ ।

व्यापार मे पहला परिवर्तन यह हुआ कि माल का नमूना बताकर क्रय-विक्रय होने लगा। इसका कारण यह था कि सभी महत्त्वपूर्ण वस्तुओ का उत्पादन बडी मात्रा में होने लगा था। इस कारण वे एक-सी ही होती थी। उदाहरण के लिए एक सूती कपडे की मिल जैसा कपडा तैयार करती है, वह सारा का सारा एक-सा ही होता है। फैक्टरियो में बनी हुई वस्तुओ का नमूना दिखाकर बेचना बहुत सरल है, परन्तु खेती की पैदावार तथा अन्य वस्तुओ को भी नमूना दिखाकर बेचना सरल हो गया। यही नही, वरन् इन वस्तुओ का श्रेणी-विभाजन (ग्रेडिग) किया जाने लगा जिसके परिणामस्वरूप नमूना दिखलाने की भी आवश्यकता नही रही। अब तो केवल उनकी ग्रेड या विवरण बताकर ही उनका क्रय विक्रय हो जाता है। उदाहरण के लिए हम जब 'एगमार्क' का घी या चावल खरीदते हे तो हम जानते हैं कि एक विशेष प्रकार का शुद्ध घी या चावल हमे मिलेगा। अतएव उनको बिना देखे ही खरीदा जा सकता है।

नमूने, श्रेणी-विभाजन, अथवा विवरण के द्वारा क्रय-विक्रय होने से अब हाट या मेलो का कोई भी महत्त्व नही रहा। उनका स्थान क्रमश बाजार की दूकानो तथा प्रड्यूस एक्सचेजो ने ले लिया है। प्रड्यूस एक्सचेज मे जिस वस्तु का क्रय-विक्रय होता है, उसका सर्वथा अभाव रहता है, वहा तो केवल उस वस्तु के क्रेता और विक्रेता एकत्रित होकर उस वस्तु का क्रय-विक्रय करते हैं। उदाहरण के लिए कपास के एक्सचेज में कपास बिल्कुल नही होती, केवल कपास को खरीदने और बेचने वाले उसे क्रय-विक्रय करते है। इसी को सट्टा कहते है। इन एक्सचेजो मे वस्तु के उत्पन्न होने के पूर्व ही उसका कई बार क्रय-विक्रय हो जाता है। इन एक्सचेजो मे भविष्य का सौदा होता है। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण वस्तु के एक्सचेज स्थापित हो गये हैं, जहा कि भविष्य के लिए उनका क्रय-विक्रय होता है। उदाहरण के लिए प्रत्येक मुख्य पैदावार का

एक्सचेंज होता है, जैसे कपास, गेहूँ, जूट, चावल, ऊन इत्यादि। सोने-चादी का एक्सचेंज और कम्पनियो के हिस्सो के क्रय-विक्रय के लिए स्टाक एक्स-चेंज होते हैं। यहा हम भविष्य के क्रय-विक्रय की गुत्थियो के सबध में कुछ नही कहेंगे। इन एक्सचेंजो या बाजारो की आज के व्यवसायियो को अत्यत आवश्यकता है। यह बाजार एक प्रकार से कारखाने वालो को कच्चे माल के खरीदने में होने वाली जोखिम से बचाते हैं। यह उस जोखिम का बीमा कर देते है और फिर वह निश्चिन्त होकर उत्पादन-कार्य को कर सकता है। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप भीमकाय पुतलीघर और फैक्टरिया स्थापित हो गई है, जिन्हे बहुत बडी मात्रा में कच्चे माल को खरीदना पडता है। यदि कच्चे माल के मूल्य मे परिवर्तन हो जावे तो इन कारखानो को बडी जोखिम का सामना उठाना पडता है। कल्पना कीजिये, किसी आटा तैयार करने वाले कारखाने ने सेना को आटा देने का ठेका लिया है और उसको ६ महीने के उपरान्त १ लाख मन आटा एक निश्चित मूल्य पर देना होगा। यदि उस समय जबकि कारखाने को आटा पीस कर देना है, तब गेहूँ का मूल्य बहुत ऊँचा चढ जाता है तो कारखाने को बहुत बडी हानि होगी। उस जोखिम से बचने के लिए कारखाना गेहूँ के बाजार में एक लाख मन गेहूँ ६ महीने के बाद के वायदे पर खरीद लेता है। अब वह निश्चिन्त होकर ६ महीने के उपरान्त आटा पीस कर सेना को दे देगा क्योकि कारखाने को एक लाख मन गेहूँ पूर्व भाव पर उस समय मिल जावेंगे फिर उस समय गेहूँ का भाव चाहे जो हो। इस प्रकार बडी मात्रा के उत्पादन के लिए भविष्य का क्रय-विक्रय अत्यत आवश्यक है। यह एक प्रकार से कच्चे माल के मूल्य में परिवर्तन होने से जो जोखिम उत्पन्न होती है, उसका बीमा कर देता है।

जहा तक खेती की पैदावार का प्रश्न है, तथा औद्योगिक कच्चे माल का प्रश्न है, इस प्रकार के भावी सौदे हो सकते है और उनके लिए संगठित बाजार (एक्सचेंज) प्रत्येक देश मे स्थापित हो गये है। परन्तु फैक्टरियो के बने हुए तैयार माल का क्रय-विक्रय इस प्रकार नही होता है। प्रत्येक देश के कारखाने विज्ञापन के द्वारा, प्रदर्शन के द्वारा, प्रचार के द्वारा अपनी वस्तु के लिए बाजार

का निर्माण करते हैं और अपनी एजेंसियां स्थापित करते हैं। आज अपने स्टोर में चले जाइए, जिस वस्तु को आप चाहे, प्राप्त कर सकते हैं। केवल अपने देश में ही नहीं, ये कारखाने अन्य देशों में भी प्रचार के द्वारा अपने माल की खपत के लिए बाजार तैयार करते हैं। यदि कोई व्यक्ति एक आधुनिक स्टोर में जाकर इस बात की गणना करे कि कौन-कौन से देश का सामान वहा मिलता है तो उसे यह देखकर अवश्य आश्चर्य होगा कि उस स्टोर में ससार के लगभग प्रत्येक देश की बनी हुई वस्तुएँ मिल जावेगी। भिन्न-भिन्न देशों से विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को मँगाने के लिए बहुत से व्यापारी अनवरत कार्य करते हैं, तब कहीं जाकर यह वस्तुए ग्राहकों को सुलभ होती है। वस्तु निर्माता इन वस्तुओं को निर्यात करता है और आयात करने वाला अथवा वस्तु निर्माता का एजेंट उनका अपने देश में विज्ञापन करके उनकी माग उत्पन्न करता है, और दूकानदारों को उस वस्तु को बेचता है। इस प्रकार हम आज दूकानों में ससार के प्रत्येक देश के बने हुए माल को भरा हुआ देखते हैं। आधुनिक दुकान या स्टोर ने गृह-स्वामिनी के कार्य को सरल बना दिया है। प्रत्येक वस्तु, जब उसे आवश्यकता होती है, मिल जाती है, सग्रह करके नहीं रखनी पडती।

आधुनिक व्यापार एक अत्यत उन्नत कला है, और उसके विशेषज्ञ ही उसको सफलतापूर्वक कर सकते हैं। औद्योगिक-क्रान्ति के पूर्व कारीगर को ही व्यापारी भी बनना पडता था। उसे अपनी बनाई हुई वस्तु को बेचना भी पडता था। परन्तु आज का उत्पादक केवल उत्पादन-कार्य ही करता है, उस वस्तु का व्यापार वे लोग करते हैं जो इस कला में पारगत हैं।

पिछले कुछ दशाब्दों से एक नवीन प्रवृत्ति देखने को मिलती है कि बडे-बडे कारखाने अपने माल को बेचने का स्वय प्रबन्ध करते हैं। उदाहरण के लिए देहली क्लाथ मिल की दूकानें देश के प्रत्येक नगर में देखने को मिल सकती है। फिर भी अभी तक अधिकतर उत्पादक अपनी वस्तु को बेचने का कार्य स्वय नहीं करते। वे अपने एजेंटों द्वारा अपने माल की बिक्री की व्यवस्था करते हैं। व्यापारिक क्रान्ति के फलस्वरूप जो सपूर्ण पृथ्वी एक बाजार बन गई है उसका परिणाम यह अवश्य हुआ है कि बडे-बडे स्टोरों का आविर्भाव

हुआ जहा छोटी-से-छोटी वस्तु से लेकर बडे से बडे मूल्य की वस्तु मिल सकती । छोटे दूकानदार को व्यापार में भी बड़े स्टोरो की प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड रहा है ।

व्यापारिक नीति

अठारहवी शताब्दी के पूर्व व्यापार का विस्तार न होने का केवल यही एकमात्र कारण नही था कि गमनागमन तथा यातायात के साधनो का विकास नही हुआ था । उस समय की व्यापार-नीति भी व्यापार की वृद्धि मे बाधक थी। अधिकाश देशो मे देश के अन्दर तथा बाहर व्यापार पर बहुत से बन्धन थे जिस कारण व्यापार का विस्तार नही हो सकता था। प्रत्येक देश मे बहुत प्रकार की चुगी थी जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल ले जाने पर देनी होती थी। इस कारण देश के अन्दर भी व्यापार का प्रवाह अबाध गति से प्रवाहित नही हो सकता था। सच तो यह है कि अठारहवी शताब्दी के पूर्व प्रत्येक देश मे इतने अधिक स्थानीय कर तथा चुगी लगाई जाती थी कि देश के अन्दर भी व्यापार सुगमतापूर्वक नही किया जा सकता था। केवल ब्रिटेन ही एक ऐसा देश था जहा देश के अन्दर व्यापार पर कोई चुगी नही थी। यही कारण था कि उन्नीसवी शताब्दी मे ब्रिटेन ने आश्चर्यजनक गति से औद्योगिक और व्यापारिक उन्नति की। इसके विपरीत फ्रास, जरमनी, योरोप के अन्य देश, भारत तथा चीन इत्यादि देशो मे आन्तरिक व्यापार पर बहुत प्रकार के प्रतिबन्ध तथा कर लगाये जाते थे । इस कारण वहा आन्तरिक व्यापार भी पूर्ण रूप से विकसित नही हो सका।

जहा तक विदेशी व्यापार का प्रश्न था, प्रत्येक देश विदेशी व्यापार को अपने लाभ का एक साधन मानता था और विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में जो भी नीति अपनायी जाती थी, वह एकमात्र संकुचित राष्ट्रीय स्वार्थ पर अवलम्बित होती थी। उस समय प्रत्येक देश में यह मान्यता थी कि विदेशी व्यापार एक प्रकार से व्यापारिक युद्ध है, जिसमें दूसरे देश के स्वार्थ की हानि करके ही अपने देश को लाभ पहुचाया जा सकता है। उस समय के अर्थ-

शास्त्री राज्य का आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप पसंद करते थे। तत्कालीन मान्यता यह थी कि राज्य को देश के आर्थिक साधनों का नियंत्रण और सचालन इस प्रकार करना चाहिए कि जिससे देश आर्थिक दृष्टि से समृद्धिशाली हो। उनका विश्वास था कि देश का समृद्धिशाली होना राजनैतिक दृष्टि से सबल होने के लिए नितान्त आवश्यक है। अतएव उस समय अर्थनीति राजनीति के दाव-पेचो के अनुसार बदलती थी।

विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में तत्कालीन धारणा यह थी कि देश को अन्य देशों को अधिक से-अधिक माल भेजना चाहिए और कम से-कम माल मँगाना चाहिए जिससे कि अपने देश में विदेशों से सोना या चादी आवे। उस समय सोना या चादी का देश में आना ही देश के धनी होने का प्रमाण माना जाता था। उनका मानना यह था कि विदेशी व्यापार का अन्तर अपने पक्ष में होने से सोना या चादी अपने देश मे आवेगा और उसके फलस्वरूप देश धनी होगा और राजनीतिक दृष्टि से सबल होगा।

यही कारण था कि आरम्भ मे जब ईस्ट इडिया कम्पनी भारत से व्यापार करती थी तो ब्रिटेन से भारत को बहुत सा सोना और चादी भेजना पडता था। अतएव ब्रिटेन मे ईस्ट इडिया कम्पनी का बहुत विरोध किया जाता था। विरोधियो का कहना था कि भारत के व्यापार से देश को हानि उठानी पडती है। प्रति वर्ष बहुत सी चादी भारत को भेजनी पडती है, इससे देश निर्धन होता है। उस समय ईस्ट इडिया कम्पनी के एक डायरेक्टर श्री थामस मुन ने एक पुस्तक लिखी और ईस्ट इडिया कम्पनी का समर्थन किया। उसका कहना था कि "हमे किसी एक देश के विदेशी व्यापार के अन्तर को नही देखना चाहिए वरन् समस्त विदेशी व्यापार के अन्तर को देखना चाहिए। यह ठीक है कि भारतवर्ष को हमें प्रतिवर्ष बहुत सी चादी भेजनी पडती है, परन्तु भारत से जो माल आता है, उसे पुन अन्य देशों को बहुत ऊँचे मूल्य पर बेचकर हम कल्पनातीत धन कमाते है और हमारे विदेशी व्यापार का अन्तर हमारे पक्ष मे रहता है। अतएव भारत से हमारा व्यापार रा ट्र के हित मे है।" थामस मुन की इस पुस्तक के फलस्वरूप ईस्ट इडिया कम्पनी का विरोध समाप्त हो गया।

उस समय राज्य देशी तथा विदेशी व्यापार पर बहुत से बन्धन लगाता था। यही कारण था कि अधिकांश योरोपीय देशों में विदेशी व्यापार का एकाधिकार कतिपय व्यापारियों की कम्पनियों को दे दिया गया था। ब्रिटिश सरकार ने कतिपय कम्पनियों को समस्त पृथ्वी से व्यापार करने का एकाधिकार दे दिया था। उन कम्पनियों को पृथक्-पृथक् क्षेत्र बांट दिये गये थे। उदाहरण के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी को एशिया से व्यापार करने का एकाधिकार प्राप्त था। अफ्रीकन कम्पनी को अफ्रीका से, लैवेंट कम्पनी को भूमध्यसागर के देशों से, रशियन कम्पनी को बाल्टिक समुद्र के देशों से तथा हडसन-बे-कम्पनी को उत्तरी अमेरिका से व्यापार करने का एकाधिकार प्राप्त था। कोई भी अंग्रेज जो उन कम्पनियों का सदस्य नहीं था, इन देशों से व्यापार नहीं कर सकता था। ठीक यही नीति फ्रांस, हालैण्ड, पुर्तगाल, स्पेन, डेनमार्क तथा स्वीडन इत्यादि देशों ने अपनाई थी। विदेशी व्यापार के लिए उस समय कम्पनियों को एकाधिकार देना राष्ट्र के हित में आवश्यक समझा जाता था जिससे कि व्यापार का राष्ट्र के हित में राज्य नियंत्रण कर सके।

इन कम्पनियों ने जब विदेशों में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया, वे वहां की शासक बन गईं, कतिपय देशों में उन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये, तब राज्य ने क्रमशः उन पर अधिक नियंत्रण करना आरम्भ कर दिया और अन्त में वे कम्पनियां समाप्त हो गईं। राज्य ने उन देशों का शासन अपने अधिकार में ले लिया। उस समय इन उपनिवेशों अथवा अधीन देशों का अनवरत शोषण करना ही इन कम्पनियों की एक मात्र नीति थी। राज्य भी यही चाहता था कि उपनिवेशों का तथा अधीन देशों का ब्रिटेन की समृद्धि के लिए शोषण किया जावे।

उस समय व्यापार-नीति का मूल आधार यह था कि राष्ट्र को स्वावलम्बी बनाया जावे। जहां तक संभव हो, प्रत्येक वस्तु का उत्पादन देश में ही किया जावे, विदेशों से माल न मंगाया जावे, परन्तु विदेशों को जितना भी संभव हो, निर्यात किया जावे, जिससे व्यापार का अन्तर पक्ष में रहे और स्वर्ण या चांदी देश में आवे। परन्तु इस सिद्धांत की प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ऐडम स्मिथ ने अपनी

प्रसिद्ध पुस्तक राष्ट्रो की सपत्ति (वेल्थ आव नेशस) में तीव्र आलोचना की। ऐडम स्मिथ ने राष्ट्रीय स्वावलम्बन के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के महत्त्व का प्रतिपादन किया। उसका कहना था कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन तभी पूर्ण रूप से विकसित हो सकता है जब कि बिना किसी विघ्न-बाधा के विदेशी व्यापार हो। इसका परिणाम यह होगा कि प्रत्येक देश अधिक समृद्धिशाली और सम्पन्न हो सकेगा। ऐडम स्मिथ के विचारो का प्रभाव यह हुआ कि ब्रिटेन मे मुक्तद्वार व्यापार-नीति को समर्थन प्राप्त हुआ और क्रमश ब्रिटेन में आयात पर लगने वाली चगी समाप्त कर दी गई और ब्रिटेन मुक्त-द्वार-नीति का समर्थक हो गया। इसी प्रकार १७८९ मे फ्रास मे जो क्राति हुई उसका मुख्य सिद्धात "स्वतत्रता" था। अतएव फ्रास मे जो भी आर्थिक बधन थे, सब समाप्त कर दिये गये। देश के अन्दर जो चुगी थी वह समाप्त हो गई और फ्रास एक इकाई बन गया। यही नही, विदेशो से होने वाले आयात पर भी कर बहुत कम कर दिया गया। इसी समय जर्मनी के भिन्न राज्यो की एक आर्थिक इकाई बन गई और वहा भी व्यापार पर जो प्रतिबन्ध थे, वे समाप्त हो गये।

सच तो यह था कि ब्रिटेन के लिए यह अत्यत आवश्यक था कि वह स्वय मुक्तद्वार-नीति को स्वीकार करे और ससार के अन्य देश भी मुक्तद्वार-नीति को स्वीकार करे क्योकि औद्योगिक क्राति के फलस्वरूप ब्रिटेन ससार का प्रमुख औद्योगिक राष्ट्र बन गया था, वह ससार के प्रत्येक देश को अपना तैयार माल भेजता था और वहा से बहुत बडी राशि मे कच्चा माल मँगाता था। ब्रिटेन के यह हित में था कि वह कच्चे माल पर कोई चुगी न लगाये और उसके तैयार माल पर विदेशो मे कोई चुगी न लगाई जावे, जिससे कि विदेशो के बाजारो मे उसके माल की खपत अबाध गति से होती रहे। अतएव, उद्योगपतियो ने इस बात का आन्दोलन किया कि ब्रिटेन मे आयात पर कोई कर न लगाया जावे। ब्रिटेन ने मुक्तद्वार नीति को अपना लिया।

परन्तु कुछ समय के उपरान्त जर्मनी मे और फ्रास मे प्रतिक्रिया हुई। इन देशो ने देखा कि ब्रिटेन औद्योगिक दृष्टि से उनकी अपेक्षा बहुत आगे है।

उसके माल की प्रतिस्पर्द्धा जर्मनी तथा फ्रास के कारखाने नही कर सकते थे। अतएव जब तक कर लगाकर ब्रिटेन के सस्ते तैयार माल को तथा ब्रिटेन के उपनिवेशो के सस्ते अनाज तथा पदार्थो को देश मे आने से रोका नही जाता, तब तक देश में उद्योग धधो अथवा खेती का विकास नही हो सकता। अर्थशास्त्री लिस्ट ने सरक्षण नीति का समर्थन किया और क्रमश. योरोप के तथा ससार के अन्य देशो ने बीसवी शताब्दी मे सरक्षण-नीति को स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन का विश्वास भी मुक्तद्वार-नीति मे हिल गया। ब्रिटेन ने अपने अधीन उपनिवेशो तथा देशो पर मुक्तद्वार-नीति को थोपा। उससे ब्रिटेन को यह लाभ था कि वहा का अनाज तथा कच्चा माल उसे सस्ते मूल्य मे मिल जाता था और उन देशो के बाजारो मे उसका माल बिकता था। परन्तु ब्रिटेन के उपनिवेश तथा अधीन देश ब्रिटेन की इस नीति से क्षुब्ध थे। सयुक्त राज्य अमेरिका तो इसी नीति के कारण विद्रोही हो गया और उसने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। स्वतन्त्र होते ही उसने सरक्षण नीति को अपनाकर अपने धधो का विकास करना प्रारम्भ कर दिया। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत अन्य देशो ने भी जैसे-जैसे उन्हे राजनैतिक अधिकार प्राप्त होते गये, सरक्षण नीतिको स्वीकार करना और सरक्षण के द्वारा अपनी औद्योगिक उन्नति करनी आरम्भ कर दी। जब ससार का प्रत्येक देश सरक्षण को अपनाकर अपनी औद्योगिक उन्नति करने का प्रयत्न कर रहा था, तो ब्रिटेन मे भी उसकी प्रतिक्रिया हुई और प्रथम महायुद्ध के उपरान्त ब्रिटेन भी क्रमश सरक्षण की ओर अग्रसर होने लगा। बात यह थी कि १९२१ के उपरान्त ब्रिटेन को अन्य देशो की भीषण प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड रहा था। अतएव अपने धधो को संरक्षण देना आवश्यक हो गया और १९३२ में ब्रिटेन ने मुक्तद्वार-नीति के सिद्धात को तिलाजलि दे दी। भारत ने सिद्धात रूप से सरक्षण को स्वतत्र होने के पूर्व ही स्वीकार कर लिया था किन्तु १९५१ तक संरक्षण की नीति कुछ शिथिल थी, परन्तु स्वतंत्र होने के उपरान्त भारत ने भी अपनी औद्योगिक उन्नति की गति तीव्र करने के उद्देश्य से पूर्ण संरक्षण नीति को

स्वीकार कर लिया है।

मुद्रा तथा साख

जब मानव समाज पारिवारिक स्वावलम्बन की अवस्था मे था, तब कोई सिक्का या कागजी मुद्रा का चलन नहीं था। केवल वस्तुओ का अदल-बदल होता था। अनाज देकर कपडा ले लिया जाता था इत्यादि। परन्तु जैसे-जैसे उत्पादन-कार्य में उन्नति होती गई, और श्रम-विभाजन का उपयोग होता गया, मानव समाज को विनिमय के एक माध्यम की आवश्यकता का अनुभव होता गया। आरम्भ में किसी ऐसी वस्तु को ही विनिमय का माध्यम स्वीकार कर लिया गया जो कि उस समाज मे सर्वमान्य और सर्वग्राह्य थी। उदाहरण के लिए अनाज, पशु इत्यादि। परन्तु इनका उपयोग मुद्रा के रूप मे तभी हो सकता था, जब तक कि मनुष्य अधिकतर स्वावलम्बी अवस्था में था और उत्पादन-कार्य में श्रम विभाजन प्रारम्भिक अवस्था में था। परन्तु जैसे-जैसे उत्पादन कार्य में श्रम विभाजन का अधिकाधिक उपयोग होने लगा, व्यापार का क्षेत्र विस्तृत होता गया, अनाज अथवा पशु इत्यादि वस्तुओ का उपयोग द्रव्य के रूप में करना कठिन हो गया। बात यह थी कि पशुओ में तथा अनाज इत्यादि में द्रव्य के रूप मे काम आने के लिए आवश्यक गुणो का सर्वथा अभाव था। सब पशु एक से नही होते थे, पशु खराब नस्ल के और अच्छी नस्ल के होते है, वृद्ध, निकम्मे और अच्छे होते है, अतएव उनके द्वारा व्यापार करने में बडी कठिनाई उपस्थित होती थी। पशुओ मे रोग फैल सकते थे और वे भारी सख्या में मर सकते थे। इसका परिणाम यह होता था कि एक धनी व्यक्ति अकस्मात् निर्धन हो जाता था और उसका सारा सचित धन समाप्त हो जाता था। इसी प्रकार पशुओ के जब बच्चे होने का मौसम आता था तो पशुरूपी द्रव्य की बहुतायत हो जाती थी और उसकी क्रय शक्ति गिर जाती थी। यही दोष अनाज तथा अन्य वस्तुओ में थे। अतएव श्रम-विभाजन के फलस्वरूप जब धनोत्पत्ति अधिक होने लगी और अनेक प्रकार की वस्तुओ का निर्माण होने लगा तो मनुष्य समाज ने धातुओ को मुद्रा पदार्थ के रूप

में काम में लाना आरम्भ किया। धातुओ मे भी क्रमश अनुभव ने मनुष्य को बताया कि सोना और चादी ही ऐसी धातुएँ है कि जो मुद्रा पदार्थ के लिए सर्वोत्तम है। वे एक समान होती है, उनकी सरलता से जाच की जा सकती है, वे शीघ्र क्षय या नष्ट नही होती, वे मूल्यवान होती है और उनका सरलता से बिना मूल्य मे कमी हुए विभाजन हो सकता है। यही कारण है कि मनुष्य समाज ने शीघ्र ही धातुओ को द्रव्य या मुद्रा के रूप मे व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया।

आरम्भ मे सोने और चादी के टुकडे ही मुद्रा के रूप मे व्यवहार मे लाये जाते थे। उस समय प्रत्येक व्यक्ति अपने पास एक थैली मे छोटे-बडे सोने-चादी के टुकडे रखता था और छोटी-सी तराजू और बाट रखता था। जब बाजार मे कोई वस्तु खरीदी या बेची जाती थी, तो पहले कसौटी पर स्वर्ण या चादी के शुद्ध होने की जाच कर ली जाती थी, तदुपरान्त उसको तौलकर लिया और दिया जाता था। परन्तु ऐसा करने मे बहुत झझट होती थी। प्रत्येक सौदे के समय सोने या चादी की शुद्धता की परख करना और उसको तौलना एक बडी अड़चन का काम था और उसमे देरी भी लगती थी। उधर व्यापार का क्षेत्र बढता जा रहा था। अतएव, इस कठिनाई को दूर करने के लिए पहले बडे-बडे व्यापारी और तत्पश्चात् राजा सोने या चादी के ऐसे टुकडो को निकालने लगे जिन पर उनकी तौल अकित रहती थी। उन टुकडो को गिन कर ही बाजार में स्वीकार कर लिया जाता था क्योकि उनकी प्रामाणिकता मे सबको विश्वास था। इन अकित टुकडो से व्यापार में बडी सरलता हो गई और यह अकित टुकडे ही वर्तमान सिक्के का आदि रूप थे।

समाज मे ऐसे चतुर व्यक्तियो की कभी भी कमी नही रही है जो बिना परिश्रम और पुरुषार्थ किये ही धनवान् बन जाना चाहते है। अस्तु, चतुर व्यक्ति इन टुकडो में से थोडा-थोडा सोना काटने लगे और बाजार मे कम वजन के टुकडे आने लगे। राज्य ने तभी से इन टुकडो पर भिन्न-भिन्न प्रकार के चिह्न अकित करने आरम्भ किये जिससे कि उनमे से कही से भी धातु को छीला न जा सके। चतुर व्यक्तियो ने कोनो को घिसना

आरम्भ कर दिया। अतएव राज्य ने सिक्को को गोल बनाना प्रारम्भ कर दिया और गोल किनारे पर भी ऐसे चिह्न बना दिये कि उसे घिसा न जा सके अन्त मे टकसाल द्वारा आधुनिक सिक्को को बनाना प्रारम्भ किया गया। जबसे सिक्को का आविर्भाव हुआ, तबसे राज्य की टकसाल और चतुर व्यक्तियो मे एक होड चलती आई है। परन्तु अभी भी चतुर व्यक्ति टकसाल को धोखा देते हैं, जाली सिक्के बनना बिलकुल बन्द नही हो गये हैं।

औद्योगिक क्रांति और यातायात मे सुधार होने के फलस्वरूप जो व्यापारिक-क्रांति हुई, उसके परिणामस्वरूप श्रम-विभाजन अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया, धनोत्पत्ति इतनी विशाल मात्रा मे होने लगी, जिसकी कभी किसी ने कल्पना भी नही की थी। व्यापार का क्षेत्र अब एक गाँव तक सीमित नही था, समस्त देश एक बाजार बन गया, और कालान्तर में समस्त पथ्वी ने एक विस्तृत बाजार का रूप धारण कर लिया। अब व्यापार इतना अधिक होने लगा है कि चादी और सोने के सिक्के भी भारी और कष्टदायक प्रतीत होने लगे। साथ ही जितनी मुद्रा की अब आवश्यकता पडती थी, उसको निकालने के लिए बहुत अधिक सोने की आवश्यकता पडने लगी। व्यय बहुत अधिक होने लगा। राज्य ने देखा कि लोगो को सोने का या चादी का सिक्का केवल विनिमय मे सरलता उत्पन्न करने के लिए चाहिए। अतएव राज्य ने कागजी मुद्रा (नोट) निकालना प्रारम्भ कर दिया। लाखो रुपयो की कागजी मुद्रा सरलता से बिना जोखिम के एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जायी जा सकती है अथवा डाक द्वारा भेजी जा सकती है। आरम्भ मे राज्य ने जनता को इस बात का आश्वासन दिया कि जो भी चाहेगा उसे कागजी मुद्रा के परिवर्तन में स्वर्ण दे दिया जावेगा। कागजी मुद्रा का उसकी सुविधाओ के कारण बहुत तेजी से प्रचार हुआ और सर्वत्र उसका चलन हो गया।

आधुनिक व्यापार की आवश्यक्ताएँ इतनी अधिक बढ गई कि वह केवल मुद्रा के चलन से ही पूरी नहीं हो सकती थी। आधुनिक व्यापार के लिए साख की भी बहुत अधिक आवश्यकता थी। यो तो अत्यत प्राचीन काल मे भी साहूकार लेन-देन करते थे परन्तु जैसे-जैसे उद्योग-धधो का स्वरूप

बदलता गया और व्यापार का विस्तार होता गया, साख की बहुत अधिक आवश्यकता अनुभव होने लगी। यह साहूकार ही कालान्तर में बैंकर बन गये और आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का जन्म हुआ। इन साहूकारो की अपने क्षेत्र मे बहुत प्रतिष्ठा थी। उन पर लोगो का अगाध विश्वास था। अतएव जब कोई सामन्त अथवा धनी व्यक्ति देशाटन के लिए, राजकीय कार्यवश, अथवा सैनिक सेवा के लिए दीर्घकाल के लिए बाहर जाता तो अपना धन, सोना-चादी, हीरे, तथा आभूषण इन साहूकारो के पास रख जाता था। यह साहूकार उस सेवा के लिए कुछ पारिश्रमिक लेते थे। अनुभव से व्यक्तियो ने देखा कि घर पर बहुमूल्य आभूषण तथा धन को रखना उचित नही है और साहूकार के पास उसकी अच्छी सुरक्षा होती है। अतएव देशाटन से लौटने पर भी वे अपने धन को नही लेते थे और उसको साहूकारो के पास ही सुरक्षित रहने देते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि साहूकार के पास उसके ग्राहको का बहुत-सा धन इकट्ठा रहने लगा।

साहूकार व्यापार के लिए, उद्योग के लिए तथा अन्य कार्यों के लिए लोगो को ऋण देने का भी कार्य करता था। आरम्भ में वह अपनी पूजी ही ऋण के रूप मे देता था, परन्तु उसने देखा कि उसके पास जो दूसरो की धरोहर रक्खी है, वह भी व्यर्थ मे पड़ी रहती है। कभी कोई उसे लेने आता है और वह भी सब नही ले जाता। अस्तु, उसने उस धरोहर के धन को भी लोगो को ऋण देकर लाभ कमाना आरम्भ कर दिया। धरोहर के धन के कुछ अश को वह अपने पास रखता था जिससे कि यदि उसे कुछ धन उसके रखने वालो को लौटाना पड़े तो कोई कठिनाई न हो। जब साहूकार ने देखा यह कार्य अत्यत लाभदायक है तो उसने अधिक धरोहर को आकर्षित करने के लिए धरोहर के रूप में जमा किये हुए धन पर जमा करने वालो को थोडा सूद भी देना आरम्भ कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जिनके पास धन होता, वे साहूकार के पास लाकर जमा करने लगे और साहूकार उसके अधिकाश भाग को ऊँचे सूद पर ऋण लेने वालो को देकर अधिकाधिक लाभ कमाने लगा।

जमा करने वालो को उनके धन की सुरक्षा के साथ-साथ थोड़ा लाभ (सूद) होने लगा अतएव साहूकारो पर अधिक धन जमा होने लगा। जब जमा करने वालो को अपना धन निकालना होता तो वे स्वय जाकर साहूकार से ले आते थे, अथवा जिसे उन्हे चुकारा करना होता था, उसके पक्ष मे साहूकार के नाम पत्र लिख देते थे। साहूकार उस पत्र में लिखे व्यक्ति को उतना रुपया दे देता था। कालान्तर मे साहूकार ने ही इस प्रकार का एक फार्म अपने पास धरोहर रखने वालो को देना आरम्भ कर दिया कि जिसको भरकर वे अपना धन निकाल सकते थे अथवा जिसका नाम वह लिख देते थे, उसको साहूकार उतना धन दे देता था। इस प्रकार आधुनिक 'चेक' का आविर्भाव हुआ।

आज तो 'चेक' का इतना अधिक चलन हो गया है कि कागजी मुद्रा की अपेक्षा उसका कई गुना अधिक व्यवहार होता है। बैंक आज केवल धरोहर के रूप में जमा की हुई राशि पर ही चेक काटने की अनुमति नही देते, वरन् वे असख्य व्यापारियो को ऋण देते हैं। उस ऋण का रकम को भी उसके हिसाब में जमा करके उस पर भी ऋण लेने वाले को चेक काटने का अधिकार देते हैं। इस प्रकार आज के बैंक साख का निर्माण करते है और ऋण देकर धरोहर के रूप मे जमा का निर्माण कर देते हैं और फिर उस पर चेक काटने का अधिकार दे देते है। अनुभव ने उन्हे बतला दिया है कि जो व्यक्ति चेक काट कर दूसरे को चुकारा करता है, वह भी उस चेक का रुपया न लेकर उसे धरोहर के रूप मे जमा कर देता है अतएव आधुनिक बैंक बहुत कम नकदी रख कर उसका दस गुने से भी अधिक ऋण दे देता है। आज सारा व्यापार-व्यवसाय ही साख पर निर्भर है और यह बैंक साख का निर्माण करते है। यही कारण है कि आज सिक्के या कागजी मुद्रा से कई गुना अधिक 'चेक' का उपयोग व्यापार मे होता है। इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नही है कि आज धनोत्पत्ति का कार्य तथा व्यापार मुख्यत साख पर ही निर्भर है। साख आधुनिक धधो और व्यापार का प्राण है। बिना साख के आधुनिक अर्थ-व्यवस्था एक दिन भी नही टिक सकती।

बीमा व्यवसाय का आविर्भाव

औद्योगिक-क्रान्ति के उपरान्त व्यवसाय तथा व्यापार में जोखिम बहुत अधिक बढ़ गई है। एक भीमकाय पुतलीघर या कारखाने को खड़ा करने में कल्पनातीत पूंजी लगती है। यदि उसको अग्नि नष्ट कर दे तो भयंकर हानि हो। इसी प्रकार विदेशी व्यापार में समुद्री खतरे में बहुत अधिक हानि की सभावना होती है। यही कारण है कि औद्योगिक तथा व्यापारिक क्रान्ति के उपरान्त अग्नि-बीमा तथा सामुद्रिक बीमे की आवश्यकता हुई, और यह व्यवसाय पनपा। परन्तु आज तो प्रत्येक जोखिम का बीमा कम्पनियां करती हैं। आज मनुष्य जीवन का बीमा होता है, फसल और पशुओं का बीमा होता है। सारांश यह कि प्रत्येक जोखिम का आज बीमा हो सकता है।

अध्याय आठवाँ

पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था का उदय

कृषि, औद्योगिक, यातायात तथा व्यापारिक क्रांति के फलस्वरूप धनोत्पत्ति के स्वरूप मे क्रांतिकारी परिवर्त्तन हो गया। कृषि में स्वावलम्बी खेती का स्थान व्यापारिक खेती ने ले लिया, उद्योग-धधो मे कुटीर और छोटी मात्रा के धधो का स्थान भीमकाय पुतलीघरो और कारखानो ने ले लिया। घोडा गाडी और छोटी नावो का स्थान रेल तथा स्टीमरो ने ले लिया और हाट तथा रेलो का स्थान सगठित बाजारो ने ले लिया जिसमें बडे-बडे व्यापारी व्यापार करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जब धनोत्पत्ति बडी मात्रा मे होने लगी तो यातायात के साधन तथा व्यापार के स्वरूप मे भी परिवर्तन करना पडा और वे भी बडे आकार मे प्रकट हुए।

सच तो यह है कि बडी मात्रा के उत्पादन के इतने अधिक आर्थिक लाभ हैं कि छोटी मात्रा का उत्पादन करनेवाले उनकी होड मे टिक ही नही सकते। उदाहरण के लिए एक बडे कारखाने को ले लीजिए। बडा कारखाना बहुत बडी राशि मे कच्चे माल का उपयोग करता है, अतएव उसको कच्चा माल अधिक मात्रा मे लेने के कारण सस्ता मिल जाता है। बहुधा तो ऐसा होता है कि कारखाना कच्चा माल भी बडे पैमाने पर स्वय ही उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिए शक्कर के कारखाने गन्ने का फार्म स्थापित करते हैं, कागज की मिलें जगल लेती हैं, लोहे के कारखाने लोहे और कोयले तथा मैंगनीज की खाने खरीद लेते है। सक्षेप में बडे कारखानो को कच्चा माल कम मूल्य पर मिल जाता है। यही नही कि कारखानो को कच्चे माल का कम मूल्य देना पडता है, वरन् उन्हे कच्चे माल की ढुलाई आदि में भी कम व्यय करना पडता है। कारखानो मे श्रम-विभाजन का पूरा-पूरा उपयोग हो सकता है, इससे श्रम की भी किफायत होती है। कारखानो में प्रत्येक मजदूर को उसकी

क्षमता और योग्यता के अनुरूप ही कार्य दिया जा सकता है और उस क्रिया को अनवरत करते रहने के कारण उसकी कुशलता और कार्य-क्षमता बढ़ जाती है। बड़ी मात्रा के उत्पादन में अपेक्षाकृत भूमि की कम आवश्यकता होती है। कारखाने में प्रत्येक क्रिया यन्त्रों के द्वारा होती है, छोटी-से-छोटी क्रिया को भी मशीनों की सहायता से किया जाता है। छोटी मात्रा के उत्पादन में कार्य इतना कम होता है कि यन्त्रों का अधिक उपयोग नहीं हो सकता। कारखानों को पूंजी एकत्रित करने में भी सरलता होती है। आवश्यकता पड़ने पर कम सूद पर बैंकों से माल मिल जाती है।

छोटी मात्रा के उत्पादन में जो कुछ कच्चा माल बच जाता है, उसका कोई उपयोग नहीं होता, वह व्यर्थ नष्ट हो जाता है। किन्तु बड़े कारखाने में कोई भी वस्तु व्यर्थ नहीं जाती उससे दूसरे पदार्थ बना कर उसे बेचा जाता है। इस बचे हुए पदार्थ का उपयोग करने के लिए गौण धंधों की स्थापना की जाती है। उदाहरण के लिए सूती वस्त्र की मिलों में जो कपास व्यर्थ हो जाती है, उसका उपयोग नकली रेशम बनाने में किया जाता है।

बड़े कारखानों में शक्ति उत्पन्न करने में व्यय कम होता है। बड़े-बड़े कारखानों को अपने धंधे के सम्बन्ध में अनुसंधान और प्रयोग करने की भी सुविधा प्राप्त होती है। बड़े कारखानों में व्यवस्था और प्रबन्ध भी अपेक्षाकृत कम खर्चीला होता है। इसके अतिरिक्त बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वालों को अपना तैयार माल बेचने में भी किफायत होती है। उदाहरण के लिए यदि हम एक छोटे जूते बनाने के कारखाने को ले लें, जिसमें प्रतिदिन सौ जूते तैयार होते हैं और उसकी तुलना में एक ऐसा कारखाना लें जिसमें प्रतिदिन दस हजार जोड़े जूते तैयार होते हैं, तो बड़े कारखाने का प्रतिजोड़ा जूता बेचने का व्यय कम होगा। विज्ञापन, कन्वैसिंग तथा एजेंटों के द्वारा ही दोनों कारखाने अपने जूतों को बेचेंगे। अतएव बड़े कारखाने में प्रतिजोड़ा जूतों को बेचने का व्यय कम होगा। ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि बड़े कारखानों में छोटे कारखानों की अपेक्षा लागत-व्यय कम होता है।

जब औद्योगिक-क्रान्ति के फलस्वरूप ऐसे कारखाने स्थापित हुए जो यंत्र तथा सचालन-शक्ति का उपयोग करते थे, तो क्रमश उनकी प्रतिस्पर्द्धा के कारण अपने झोपडे में काम करने वाला कारीगर न टिका और वह समाप्त होता गया। कारीगर के लिए इसके अतिरिक्त और कोई चारा नही रहा कि वह उन्ही कारखानो मे श्रमजीवी के रूप मे मजदूरी पर कार्य करे। इस प्रकार स्वतन्त्र और समृद्धिशाली कारीगर वर्ग का और छोटे कुटीर-धधो का विनाश हो गया।

परन्तु यह क्रम कुटीर-धधो की समाप्ति पर ही नही रुक गया। जो छोटे-छोटे कारखाने स्थापित हुए उनमे भी आपस मे प्रतिस्पर्द्धा होने लगी और अपेक्षाकृत बडे कारखाने की प्रतिस्पर्द्धा मे छोटे-छोटे कारखाने नही टिक सके। इसका परिणाम यह हुआ कि बडे भीमकाय पुतलीघरो का उदय हुआ और छोटे-छोटे कारखाने समाप्त होते गये।

औद्योगिक-क्राति के उपरान्त जो मशीन और सचालन-शक्ति का उत्पादन मे उपयोग हुआ, उसका एक परिणाम तो यह हुआ कि उत्पादन-कार्य मे श्रम की अपेक्षा पूजी का महत्त्व बहुत अधिक बढ गया। परन्तु जैसे-जैसे उद्योग-धधो में कारखानो का आकार बढता गया, और बडे कारखानो की प्रतिस्पर्द्धा मे छोटे कारखाने समाप्त होते गये, वैसे-वैसे कारखानो को स्थापित करने मे अधिकाधिक पूजी की आवश्यकता होती गई।

अधिक पूजी की आवश्यकता उद्योग-धधो मे बडे कारखाने स्थापित करने में ही नही, खानो को खोदने मे, यातायात तथा गमनागमन के साधनो को विकसित करने मे, तथा व्यापार में भी बढ गई। उन्नीसवी तथा बीसवी शताब्दियो मे उद्योग-धधो, यातायात तथा व्यापार के लिए बहुत अधिक पूजी की आवश्यकता होने लगी, और आज तो पूजी की और भी अधिक आवश्यकता है।

सच तो यह है कि मशीनो के आविष्कार तथा यान्त्रिक शक्ति के आविष्कार के फलस्वरूप औद्योगिक क्रान्ति कभी भी सम्भव नही हो सकती थी जब तक कि उन मशीनो के चाको को चलाने के लिए पूजी रूपी

शक्ति न होती। ब्रिटेन मे जो औद्योगिक-क्रान्ति सफल हुई उसका एकमात्र कारण यह था कि ब्रिटेन का एक विशाल साम्राज्य स्थापित हो गया था। भारत जैसा धनी देश उसके अधीन था। भारत के अनवरत शोषण और लूट से ब्रिटेन में ईस्ट इडिया कम्पनी के हिस्सेदारो के पास अनन्त धनराशि इकट्ठी हो गई थी। इसके अतिरिक्त एक विशाल साम्राज्य का स्वामी होने के कारण ब्रिटेन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत अधिक बढ गया था। उस अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से जो लाभ होता था उसके कारण ब्रिटेन मे उस समय बडी तेजी से पूजी का निर्माण हो रहा था। यह हम पहले ही कह चुके है कि ब्रिटेन ने समस्त ससार का बटवारा करके भिन्न-भिन्न भागो से व्यापार करने का एकाधिकार कतिपय कम्पनियो को सौप दिया था। अतएव उन कम्पनियो के हिस्सेदारो के पास वार्षिक लाभ का कल्पनातीत धन एकत्रित होता जा रहा था। यही कारण था कि औद्योगिक-क्रान्ति के समय ही ब्रिटेन मे एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया कि जिसके पास यथेष्ट पूजी एकत्रित हो गई। यदि ब्रिटेन मे इस राजनीतिक कारण से पूजी एकत्रित न हो गई होती तो वहा जो औद्योगिक-क्रान्ति हुई वह पिछड गई होती और सम्भवत आधुनिक उद्योग धधो की स्थापना बहुत समय के उपरान्त हुई होती।

यह हम पहले ही कह चुके है कि औद्योगिक-क्रान्ति के फलस्वरूप जब प्रारम्भ मे कारखाने स्थापित हुए तो कारीगरो द्वारा चलाये जाने वाले कुटीर-धधो का पतन हो गया और क्रमश बडे-बडे कारखानो की स्थापना होने लगी। परन्तु बडे-बडे कारखानो को स्थापित करने के लिए बहुत अधिक पूजी की आवश्यकता होती थी और साथ ही जोखिम भी उतनी ही अधिक बढ गई। अतएव बडी मात्रा के उत्पादन को स्वीकार करने से तीन समस्याएं उठ खडी हुई। प्रथम पूजी की आवश्यकता बहुत अधिक बढ गई, दूसरे धंधे तथा व्यापार की जोखिम बहुत अधिक हो गई और तीसरे बडे कारखानों की व्यवस्था और प्रबध के लिए बहुत अधिक योग्यता और कुशलता की आवश्यकता होने लगी।

जब कुटीर-धधो मे कारीगर छोटी मात्रा का उत्पादन करता था तो उसे अधिक पूजी की आवश्यकता नही होती थी। अपनी झोपडी मे ही वह कार्य करता रहता था। उसके लिए कोई वडी इमारत की आवश्यक्ता नही पडती थी। उसके थोडे से औजार होते थे, जिन से वह काम करता था। कहने का तात्पर्य यह है कि उसको बहुत कम पूजी की आवश्यकता होती थी। वह बहुधा स्थानीय ग्राहको के लिए सामान तैयार करता था। आर्डर के साथ उसको कुछ पेशगी धन मिल जाता था। अस्तु, उस ग्राहक की आवश्यकता की वस्तु बनाने के लिए आवश्यक कच्चा माल वह उसी समय खरीद लेता था। उसे इस बात की चिन्ता नही रहती थी कि वस्तु का निर्माण हो जाने के उपरान्त वह बिकेगी अथवा नही बिकेगी। अधिकतर तो वह अपने स्थानीय ग्राहको के लिए वस्तुए बनाता था। परन्तु यदि वह बिना आर्डर के भी सामान बनाता था तो उसे स्थानीय माग का पूरा ज्ञान रहता था। प्रत्येक गाव का एक कारीगर होता था। उसके ग्राहक बधे हुए रहते थे, कोई प्रतिस्पर्धा उसे नही करनी पडती थी। अतएव जो कुछ भी सामान वह बनाता था, सारा का सारा बिक जाता था। धधे में उस समय तनिक भी जोखिम नही थी। परन्तु एक आधुनिक वडे कारखाने की स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। एक आधुनिक बडे कारखाने की स्थापना के लिए बहुत बडा विस्तृत स्थान चाहिए। उस पर बहुत विशाल भवन के निर्माण की आवश्यकता होती है। हजारो की सख्या मे श्रमजीवियो तथा कर्मचारियो के लिए आवास की व्यवस्था करनी पडती है। कच्चा माल भरने तथा तैयार माल को रखने के लिए बहुत वडे भडार-घर चाहिएँ। कारखाने मे मूल्यवान भारी यत्र बहुत बडी सख्या मे लगाने पडते है तथा बडे-बडे स्टीम ऐंजिन शक्ति उत्पन्न करने के लिए खडे करने पडते है। लाखो रुपयो का कच्चा माल तथा अन्य आवश्यक वस्तुए खरीद कर रखनी पडती है और लाखो रुपया प्रति सप्ताह मजदूरो को मजदूरी देनी पडती है। अतएव एक आधुनिक बडे कारखाने की स्थापना के लिए करोडो रुपयो की पूजी चाहिए। बिना

यथेष्ट पूजी एकत्रित किये कोई बडा कारखाना स्थापित नही किया जा सकता।

आधुनिक कारखानो या बड़े धधो की स्थापना के लिए कल्पनातीत अधिक पूजी ही नही चाहिए वरन् उनको स्थापित करने मे अत्यधिक जोखिम भी उठानी पडती है। बात यह है कि कारखानो द्वारा उत्पादन करने मे उत्पादन और उपभोग का कोई सीधा सम्बन्ध नही होता। कारखाने के कोई बधे हुए ग्राहक नही होते। जब कारखाना किसी वस्तु का निर्माण करता है तब वह इस आशा से उसका निर्माण करता है कि विज्ञापन तथा प्रचार के अन्य साधनो का उपयोग करके वह अपने माल को बाजार मे बेच लेगा, परतु अन्य कारखाने भी इसी आशा से उत्पादन करते हैं और बाजार मे उन कारखानो मे भीषण प्रतिस्पर्द्धा होती है। अब यह बहुत सम्भव है कि किसी कारखाने का लागत व्यय दूसरे कारखाने से अधिक है अथवा उसका माल उतना श्रेष्ठ नही है अथवा उसके डिजाइन उतने सुन्दर नही है जितने दूसरे कारखाने के हैं। अस्तु, उसका अनुमान गलत हो सकता है और उसके माल की बिक्री कम हो सकती है। अथवा उसने जो लागत व्यय का अनुमान लगाया था उससे लागत व्यय अधिक हो सकता है। अतएव कारखानो को बहुत अधिक हानि भी पहुच सकती है। इसके अतिरिक्त आज की जटिल अर्थ-व्यवस्था के कारण कभी-कभी व्यापार मे बहुत मदी हो जाती है, वस्तुओ के मूल्य गिरने लगते है, उद्योगपतियो तथा व्यापारियो को कल्पनातीत हानि होती है और बहुत-से कारबार ठप्प हो जाते हैं। इसके विपरीत कभी-कभी उद्योग धधो तथा व्यापार मे तेजी आती हैं, व्यवसाय चमक उठता है, व्यवसायियों को बहुत अधिक लाभ होता है। कहने का तात्पर्य यह कि बडी मात्रा के व्यवसाय और व्यापार में जोखिम भी बहुत बडी है। जब तक कोई व्यक्ति उस जोखिम को उठाने की क्षमता न रखता हो तो तब तक बडी मात्रा का उत्पादन सम्भव नही है। अतएव आधुनिक धंधो मे साहस की बहुत बडी आवश्यकता और साहसी का प्रमुख स्थान है। साहसी ही आज धधे को गति देता है।

बड़े कारखाने तथा बडे कारबार की व्यवस्था करना, उसकी स्थापना

करना, आवश्यक साधनो को जुटाना और जब वह खडा हो जावे तो उसका सचालन करना यह भी साधारण कार्य नही है। इसके लिए अभूतपूर्व कार्य-क्षमता, कुशलता, योग्यता तथा नेतृत्व-शक्ति की आवश्यकता होती है। कल्पना कीजिए कि एक बडा स्टील का कारखाना स्थापित करना है। उसके लिए एक या डेढ अरब रुपए की तो पूजी चाहिए परन्तु केवल पूजी इकट्ठी करने मात्र से कार्य नही चल सकता। इस प्रकार के कारखाने को चलाने मे असफल हो जाने पर जो भयकर जोखिम है उसको उठाने के लिए 'साहसी' की आवश्यकता है और उसको खडा करके सफलतापूर्वक चलाने के लिए जो अनिर्वचनीय कार्यक्षमता, योग्यता, कुशलता और नेतृत्व-शक्ति की आवश्यकता है वह साधारण व्यक्ति मे नही हो सकती। उसके लिए अत्यन्त कुशल व्यवस्थापक की आवश्यकता है।

स्टील निर्माण करने वाले इस विशाल कारखाने को कहा स्थापित किया जावे इसका चुनाव करना होगा। अभी हाल मे भारत सरकार ने जर्मन विशेषज्ञो की सहायता से जो 'रूरकेला' मे तथा रूसी विशेषज्ञो की सहायता से 'भिलाई' मे स्टील प्लाट लगाने का निश्चय किया है इसका निर्णय करने मे कितना अधिक समय लगा और कितने विशेषज्ञो की सहायता लेनी पड़ी इसकी साधारण व्यक्ति कल्पना भी नही कर सकता। साहसी अवश्य ही यह चुनाव करने मे कि कारखाना कहा स्थापित किया जावे विशेषज्ञो का परामर्श लेता है परन्तु अन्त में निर्णय तो स्वय उसी को लेना पडता है। स्वर्गीय जमशेदजी ताता ने भारत मे सर्वप्रथम जब साकची गाव (वर्तमान तातानगर) में स्टील का कारखाना स्थापित किया था तो उन्होने अमेरिकन स्टील विशेषज्ञो से परामर्श अवश्य लिया था किन्तु अन्त मे निर्णय स्वय उनको करना पडा था।

स्थान के अतिरिक्त कारखाने की इमारत कैसी हो मजदूरो और कर्मचारियो के रहने के मकान कैसे हो तथा कौन सी मशीने खरीदी जावे तथा कैसा कच्चा माल काम मे लाया जावे और कैसा माल तैयार किया जावे इस सब का निर्णय साहसी को ही करना पडता है। यद्यपि मैनेजर इत्यादि

रखकर कारखाने की व्यवस्था कराई जाती है परन्तु फिर भी नीति के सम्बन्ध में निर्णय व्यवस्थापक को ही लेने पडते है। कहने का तात्पर्य यह है कि आज के उद्योग व्यवसाय को चलाने के लिए बहुत अधिक पूजी, अपरिमित साहस और अनिर्वचनीय कार्यक्षमता, योग्यता, कुशलता तथा नेतृत्व शक्ति की आवश्यकता होती है।

यही कारण है कि औद्योगिक-क्रान्ति के उपरान्त जब फैक्टरियो की स्थापना हुई तो व्यवस्था की साझेदारी प्रथा तथा व्यक्तिगत स्वामित्व का स्थान सीमित दायित्व वाली कम्पनियो ने लेना आरम्भ कर दिया। सीमित दायित्व वाली कम्पनियो का एक बडा लाभ यह था कि यथेष्ट पूजी एकत्रित करने मे सरलता होती है तथा जोखिम भी सीमित हो जाती है। बात यह है कि आज एक कारखाने को स्थापित करने के लिए जितनी पूजी की आवश्यकता होती है उतनी पूजी एक व्यक्ति के पास होना कठिन है। और यदि यह भी सम्भव हो कि उतनी पूजी एक व्यक्ति के पास हो तो वह अपनी सारी पूजी एक कारखाने मे लगा देने की जोखिम नही लेना चाहेगा क्योकि उद्योग-धधे तथा व्यापार मे पूजी लगाने का सर्वोत्तम सिद्धान्त है "सब अडे एक टोकरी में मत रक्खो"। यही कारण है कि कोई भी पूजीपति या व्यवसायी अपनी समस्त पूजी एक कारबार मे नही लगाता। सीमित दायित्व वाली कम्पनियो का बहुत बडा लाभ यह है कि उनके द्वारा जोखिम सीमित हो जाती है और उचित मूल्य के हिस्से होने के कारण पूजीपति या कम्पनी का सस्थापक सर्वसाधारण की पूजी को भी धधे के लिए आकर्षित कर सकता है।

आधुनिक समय मे कम्पनी की स्थापना किस प्रकार होती है इसका हम यहा एक चित्र उपस्थित करते है। ससार के प्रत्येक देश में व्यवसायी पूजीपति इस कार्य को करते है। कही उन्हें कम्पनियो का संस्थापक कहते हैं, भारत में वे मैनेजिंग एजेट के नाम से प्रसिद्ध है। कल्पना कीजिए कि किसी वैज्ञानिक ने यह खोज की कि किसी घास से बहुत ऊचे दर्जे का कागज तैयार किया जा सकता है। वह कागज अन्य कागजो से अधिक टिकाऊ

और सस्ता होगा परन्तु वैज्ञानिक के पास न तो इतनी पूजी है कि वह एक कारखाना स्थापित करके बडी मात्रा मे कागज का उत्पादन कर सके और न उसमे व्यवस्था करने और जोखिम लेने की क्षमता ही है। अतएव जब तक उसे कोई साहसी व्यवसायी नही मिलता तब तक उसकी खोज व्यर्थ है। अतएव वैज्ञानिक किसी साहसी पूजीपति व्यवसायी के पास जाता है। व्यवसायी पूजीपति उसके प्रयोग की भली प्रकार जाच करेगा और यदि उसको विश्वास हो गया कि वास्तव मे उस घास से उत्तम और अपेक्षाकृत सस्ता कागज बन सकता है तो वह तुरन्त वैज्ञानिक से उसके आविष्कार या फारमूले को खरीद लेगा। दो-चार लाख रुपये जो भी उस फारमूले की कीमत तय हो जावे वह उसको दे दी जावेगी। परन्तु यदि वैज्ञानिक कागज के उत्पादन से सम्बन्ध रखना चाहता है तो साहसी पूजीपति व्यवसायी उसको कम्पनी मे एक भागीदार के रूप मे लेना स्वीकार कर लेगा। साहसी पूजीपति व्यवसायी एक कम्पनी की स्थापना करेगा जिसकी पूजी आवश्यकतानुसार होगी। कम्पनी के इतने हिस्से वह स्वय या अपने मित्रो या सम्बन्धियो के पास रख लेगा जिससे कि वह कम्पनी का सर्वेसर्वा बना रहे। वह अपने सम्बन्धियो या मित्रो को ही कम्पनी का डाइरेक्टर नियुक्त कर देगा। यह कम्पनी वैज्ञानिक से उसका फारमूला खरीद लेगी। कुछ मूल्य नकदी मे चुका दिया जावेगा और कुछ मूल्य शेयरो के रूप मे दिया जावेगा। वैज्ञानिक को उचित वेतन पर मुख्य कैमिस्ट नियुक्त कर दिया जावेगा। कम्पनी की रजिस्ट्री हो जाने पर और कागज बनाने तथा कारखाने को चलाने का कानूनी अधिकार मिल जाने पर साहसी पूजीपति विवरण-पत्र (प्रास्पैक्टस) प्रकाशित करेगा, उसमें कम्पनी के सम्बन्ध में सभी ज्ञातव्य बाते दी जावेगी। उसमें यह उल्लेख रहेगा कि कम्पनी के पास कागज का एक ऐसा फारमूला है जिससे बहुत बढिया कागज बहुत कम लागत में तैयार होगा और क्योकि देश मे बहुत अधिक कागज की खपत है, शिक्षा का विस्तार हो रहा है, कागज की माग प्रतिदिन बढ रही है अतएव कम्पनी जितना कागज वर्ष भर मे तैयार करेगी हाथो हाथ बिक जावेगा

और कम्पनी को वार्षिक अनुमानत इतना लाभ होगा । अतएव जो लोग कम्पनी के हिस्सो को खरीदेगे उन्हे अपनी पूजी पर आशातीत लाभ होगा । इस विवरण-पत्रिका का समाचार-पत्रो मे तथा पृथक् रूप से विस्तृत प्रचार किया जावेगा । अपने तथा अपने मित्रो और सम्बन्धियो के प्रभाव के कारण, उनमे सर्वसाधारण का विश्वास होने के कारण, बैंको पर उनका प्रभुत्व होने के कारण, तथा शेयर बाजार मे उनका वर्चस्व होने के कारण उस कम्पनी के शेयर बाजार मे बिक जाते है । कम्पनी का सस्थापक पूजीपति व्यवसायी अपनी सेवा के पारिश्रमिक के स्वरूप या तो उस कम्पनी के यथेष्ट हिस्से बिना मूल्य चुकाये प्राप्त कर लेता है और यदि मूल्य चुकाता है तो उस कम्पनी का सचालन और व्यवस्था का अधिकार अपने लिए प्राप्त कर लेता है तथा वार्षिक लाभ पर अपना कमीशन निर्धारित करवा लेता है । कहने का तात्पर्य यह है कि साहसी पूजीपति व्यवसायी जो कम्पनी की स्थापना करता है वही उसका सर्वेसर्वा बन जाता ह । कम्पनी का अधिकाश लाभ उस साहसी पूजीपति की तिजोरी मे जाता है । भागीदारो को तो उनकी पूजी पर उचित सूद मिल जाता है । कारखाने के कच्चे माल को खरीदने पर, कारखाने के लिए मशीने इत्यादि खरीदने पर कमीशन के रूप में, अपने मित्रो तथा सम्बन्धियो को बहुत अधिक ऊचे वेतन पर नियुक्त करके, तथा वार्षिक लाभ का यथेष्ट भाग अपनी सचालन तथा व्यवस्था की सेवा के उपलक्ष में स्वय लेकर, तथा अपने हिस्सो पर लाभ के रूप में धन प्राप्त करके वह कारखाने से होने वाले लाभ का अधिकाश अपने लिए सुरक्षित कर लेता है । उसे कम्पनी की वास्तविक स्थिति का सर्वदा ज्ञान रहता है । अस्तु यदि अस्थायी रूप से कभी लाभ कम होता है अथवा अन्य किसी कारण से शेयर बाजार में हिस्सो का मूल्य गिरने लगता है तो वह गुप्त रूप से उनको कम मूल्य पर खरीद लेता है और जब उनका मूल्य ऊंचा चढने लगता है तो बेच देता है । इस प्रकार वह केवल उक्त कम्पनी के यथेष्ट हिस्से ही अपने पास नही रखता वरन् उनके क्रय विक्रय से सदैव लाभ उठाता रहता है । बात यह है कि यदि किसी साहसी पूजीपति के

अधिकार या प्रभाव में किसी कम्पनी के पच्चीस-तीस प्रतिशत हिस्से भी हो तो वह उस कम्पनी का सर्वेसर्वा बन जाता है क्योकि शेष हिस्से तो सहस्रो भागीदारो के पास बहुत थोडी सख्या में होते हैं जो देश और विदेशो में दूर-दूर बिखरे होते हैं। वे कभी सगठित नही हो सकते। अतएव थोडी-सी पूजी लगा कर अथवा अपनी सस्थापन-सेवा के उपलक्ष में कम्पनी से बिना मूल्य हिस्से प्राप्त करके पूजीपति कम्पनी का वास्तविक स्वामी बन जाता है।

कालान्तर मे कम्पनी से प्राप्त होने वाले विपुल लाभ के जमा होने से साहसी पूजीपति के पास और अधिक पूजी एकत्रित हो जाती है और वह कोई नवीन कारखाना स्थापित करता है और उसके लाभ को तीसरे कारखाने में लगाता है। यह क्रम निरतर चलता रहता है। इस प्रकार साहसी पूजीपति व्यवसायी की अधीनता मे अनेको कारखानो की स्थापना होती है। एक पूजीपति व्यवसायी सैकडो कारखानो का स्वामी बन जाता है और उसके पास कल्पनातीत धन-राशि एकत्रित हो जाती है। वह धन-कुबेर बन जाता है। समाज मे एक वर्ग पूजीपतियो का उदय हो जाता है जिनके पास देश की अधिकाश सम्पत्ति इकट्ठी हो जाती है और देश की वार्षिक धनोत्पत्ति का अधिकाश भाग उनकी तिजोरियो मे जाता है। परन्तु यह साहसी व्यवसायी केवल अगुलियो पर गिने जा सकते है। उन की सख्या प्रत्येक देश में बहुत न्यून होती है परन्तु उनके पास अनन्त धन एकत्रित हो जाता है। प्राचीन काल तथा मध्ययुग में जो सम्राटो के वैभव और समृद्धि के हम जो वर्णन इतिहास मे पढते है वे आज के धन-कुबेरो की तुलना मे फीके प्रतीत होते हैं। मध्य युग का वैभवशाली सम्राट आज के धन-कुबेरो की तुलना में निर्धन प्रतीत होता है। इन पूजीपति धन-कुबेरो के धन की कल्पना भी सम्भव नही है।

एकाधिकार का उदय

परन्तु साहसी पूजीपति व्यवसायी केवल अधिकाधिक कारखाने स्थापित करके ही सतुष्ट नही हो जाता। वह क्रमश किसी उद्योग विशेष पर एका-

धिकार स्थापित कर लेना चाहता है। कल्पना कीजिए कि किसी देश में किसी धंधे विशेष में यथेष्ट कारखाने स्थापित हो गए हों और कोई साहसी व्यवसायी उसमें अपना एकाधिपत्य स्थापित करना चाहता है, तो वह अपने कारखानों की तेजी से उन्नति करेगा और यदि उसको उत्पादन की कोई ऐसी प्रणाली ज्ञात है जिससे कि उसके कारखाने में उत्पादन व्यय कम होता है अथवा उसके पास कोई ऐसा आविष्कार या फारमूला है कि वह अपने माल को कम लागत पर उत्पन्न कर सकता है तो वह अपने कारखाने का विस्तार करता जावेगा और कम मूल्य पर अपनी वस्तु को बेचने लगेगा। इसका परिणाम यह होगा कि उसके कार-खाने की बनी वस्तु की मांग बढ़ने लगेगी और अन्य कारखानों के माल की मांग कम हो जावेगी। कालान्तर में इस भयंकर प्रतिस्पर्द्धा के कारण जो कारखाने निर्बल हैं, जिनका लागत व्यय अधिक है, उन्हें हानि होने लगेगी और वे समाप्त हो जावेंगे। जब कारखाने दिवालिया हो जावेंगे तो उनके लिए एक ही रास्ता रहेगा कि वे अपने कारखाने को बेच दें। यह महत्त्वाकांक्षी चतुर व्यवसायी उनको नाम मात्र के मूल्य पर खरीद लेगा और अब उसकी क्षमता अधिक बढ़ जावेगी। तदुपरान्त धंधे में अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित तथा लाभ देने वाले कारखाने ही शेष रहेंगे। एकाधिकार की स्थापना करने वाला साहसी व्यवसायी अपनी प्रतिस्पर्द्धा की गति को तीव्र कर देगा। वह निरन्तर वस्तु के मूल्य को कम करता जावेगा तथा प्रतिस्पर्द्धा तीव्रतर होती जावेगी। क्रमश: कुछ कारखाने और बंद हो जावेंगे। जब धंधे में थोड़े-से ही प्रबल और शक्तिवान कारखाने रह जाते हैं तब गलाकाट-प्रतिस्पर्धा होती है। एकाधिकार स्थापित करने का प्रयत्न करने वाला महत्त्वाकांक्षी व्यवसायी थोड़ी हानि उठाकर भी मूल्य को कम करता जाता है। कारण उसके पास इतने अधिक साधन होते हैं कि वह उस भीषण प्रतिस्पर्धा में टिक सकता है। कालान्तर में जब अन्य कारखानों की जो कि अब संख्या में बहुत थोड़े हैं स्थिति डावाडोल होने लगती है तब वह व्यवसायी उनके सामने या तो यह प्रस्ताव रखता है कि

वह उन्हें खरीद ले अथवा यह प्रस्ताव रखता है कि वे उसके कारखाने के साथ मिल जावें। उनके सामने उस व्यवसायी के प्रस्ताव को स्वीकार करने के अतिरिक्त और दूसरा कोई चारा नही रहता। इस मिलन का परिणाम यह होता है कि धधे में एकाधिकार स्थापित हो जाता है और उस वस्तु को उत्पन्न करने का एकमात्र साधन वह कारखाना अथवा उसकी शाखाए रह जाती है। जब धधे मे एकाधिकार स्थापित हो जाता है तो फिर प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाती है। व्यवसायी वस्तु का मनमाना मूल्य लेने लगता है और उसे कल्पनातीत लाभ प्राप्त होने लगता है। क्रमशः उस एकाधिकारी के पास अनन्त राशि मे पूजी एकत्रित हो जाती है। उसका वार्षिक लाभ इतना अधिक होता है कि उसकी कोई कल्पना भी नही कर सकता। उसके उपरान्त उसकी दृष्टि उन धधो पर पडती है जो कि उसकी वस्तु को तो उत्पन्न नही करते परन्तु उससे मिलती हुई वस्तु उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी का सूती वस्त्र के धधे पर एकाधिपत्य स्थापित हो जावे तो उसका भावी प्रयत्न यह होगा कि वह ऊनी वस्त्र, रेशमी वस्त्र तथा नकली रेशम के वस्त्र व्यवसाय पर भी एकाधिपत्य स्थापित कर ले। जब कोई व्यवसायी किसी एक देश में किसी धधे विशेष पर एकाधिकार स्थापित कर लेता है और उसके पास अनन्त धन राशि एकत्रित हो जाती है तथा यदि उसको सुविधा होती है तो वह उस धधे पर अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार स्थापित करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार पूजी का एकत्रीकरण कतिपय धन-कुबेरो के पास हो जाता है, और वे आपस में मिल कर उस धधे पर ससार भर में अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।

हम यहा सयुक्त राज्य अमेरिका के स्टैंडर्ड आयल ट्रस्ट का सक्षिप्त विवरण देगे जिससे यह स्पष्ट हो जावेगा कि इन ट्रस्टो के स्वामी धन-कुबेरो को कितनी अनन्त आर्थिक शक्ति प्राप्त हो जाती है जिसके कारण वे समस्त राष्ट्र को प्रभावित कर सकते हैं।

इस ट्रस्ट का सयुक्त राज्य अमेरिका के सभी तेल-कूपो पर एका-

धिपत्य स्थापित है। आज इसको कोई अन्य व्यवसायी इस धंधे में चुनौती नहीं दे सकता। पहले तो इस भीमकाय ट्रस्ट के भूगर्भ विशेषज्ञ इस टोह में रहते हैं कि पृथ्वी के गर्भ में कहां खनिज-तेल बह रहा है उसका पता लगाया जावे। जैसे ही इस ट्रस्ट को अपने भूगर्भ विशेषज्ञों द्वारा यह ज्ञान होता है कि कहीं खनिज-तेल उपलब्ध है वे उस क्षेत्र को खरीद लेते हैं। और यदि दुर्भाग्यवश कोई अन्य व्यवसायी किसी खनिज क्षेत्र का पता लगा लेता है तो ट्रस्ट उस पर दबाव डालता है कि वह उनके हाथ उस क्षेत्र को बेच दे। यदि वह व्यवसायी ऐसा नहीं करता और वहां से तेल निकाल कर बाजार में बेचने का प्रयत्न करता है तो यह ट्रस्ट रेलवे कम्पनियों को धमकाता है कि वे उस कम्पनी के तेल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हुए नष्ट कर दें। तेल कभी ग्राहक के पास न पहुंचे और उसके फलस्वरूप रेलवे को जो हानि होगी वह ट्रस्ट दे देगा। इसका परिणाम यह होता है कि नई कम्पनी का तेल ग्राहक के पास पहुंचता ही नहीं। यदि यह सम्भव न हुआ तो ट्रस्ट उस कम्पनी के पास ही एक अपनी नाम मात्र की कम्पनी स्थापित कर देता है। वह उस नई कम्पनी के क्षेत्र में बहुत कम मूल्य पर तेल बेचने लगती है। ट्रस्ट के लिए एक-दो करोड़ डालर की हानि नहीं के बराबर होती है परन्तु वह नई कम्पनी दिवालिया हो जाती है, और विवश होकर उस कम्पनी को अपने-तेल क्षेत्रों को स्टैंडर्ड आयल ट्रस्ट को बेचना पड़ता है। इस ट्रस्ट का वार्षिक लाभ चार अरब डालर से अधिक होता है और वह चार-पांच व्यक्तियों की तिजोरियों में जाता है। ट्रस्ट ने कई गैस कम्पनियों को खरीद लिया है, कई रेलवे लाइनें इस ट्रस्ट की सम्पत्ति हैं और कई बैंक इसके द्वारा संचालित होते हैं। यही नहीं कि स्टेंडर्ड आयल ट्रस्ट ने संयुक्त-राज्य अमेरिका के खनिज-तेल के धंधे पर एकाधिपत्य स्थापित कर लिया है वरन् दक्षिण अमेरिका के पिछड़े हुए राज्यों में तथा एशिया के देशों में जहां-जहां तेल मिलता है वहां-वहां वह पहुंच गया है और उन देशों के तेल क्षेत्रों को भी अपने अधिकार में लाने का प्रयत्न करता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में केवल एक स्टैंडर्ड आयल ट्रस्ट ही यही बात

नही है। प्रत्येक महत्वपूर्ण धधे में ट्रस्ट की स्थापना हो गई है। उदाहरण के लिए यूनाइटेड स्टेट्स स्टील कारपोरेशन को ले लीजिए। लोहे के धधे का यह एक बृहद् ट्रस्ट है। उसके पास सौ के लगभग ब्लास्ट फरनेस है जिनमें एक करोड टन से अधिक लोहा प्रतिवर्ष तैयार होता है। संसार-प्रसिद्ध झील क्षेत्र की तीन-चौथाई से अधिक लोहे की खाने इस कारपोरेशन के अधिकार में है, उसके कोयले के क्षेत्र का क्षेत्रफल लाखो एकड है जहा से वह कोयला निकालती है और उसके पास सैकडो जहाज है जोकि कोयला और लोहा लाते है। इस स्टील कारपोरेशन के वार्षिक लाभ की अनन्त धन राशि कतिपय धन-कुबेरो की तिजोरी मे जाती है। इसी प्रकार अन्य धधो मे भी ट्रस्ट तथा एकाधिकार स्थापित हो जाते है। ब्रिटेन तथा जर्मनी मे भी धधो में ट्रस्ट और एकाधिकार स्थापित हो गए है। सच तो यह है कि ट्रस्ट या एकाधिकार बडी मात्रा के उत्पादन का तार्किक परिणाम मात्र है। जिस प्रकार एक कारीगर एक यत्र द्वारा चालित बडे कारखाने की प्रतिस्पर्धा मे नही खडा हो सकता क्योकि बडे कारखाने को उत्पादन मे बहुत प्रकार की सुविधाये प्राप्त है उसी प्रकार एकाधिकार तथा ट्रस्ट को एक कारखाने की तुलना मे बहुत अधिक सुविधाये प्राप्त है। जो बचत एक कारखाने को उपलब्ध है वह बहुत अधिक मात्रा में एक भीमकाय ट्रस्ट को उपलब्ध होती है। अतएव बडी मात्रा के निजी उत्पादन में ट्रस्ट अथवा एकाधिकार का उदय होना स्वाभाविक है।

यह हम पहले ही कह चुके है कि ट्रस्ट केवल एक देश में ही किसी धधे पर एकाधिकार स्थापित करके सतुष्ट नही हो जाते, वे अन्य देशो के धन-कुबेरो को अपना छोटा साझीदार बना कर अथवा यदि सम्भव हुआ उनको नष्ट करके अन्य देशो में भी उस धधे पर एकाधिकार स्थापित कर लेते है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार अथवा ट्रस्टो का सगठन होता है।

इस प्रकार जब उत्पादन पर कतिपय धन-कुबेरो का एकाधिकार स्थापित हो जाता है और उनके पास अनन्त राशि में धन इकट्ठा हो जाता है तो इन धन-कुबेरो की शक्ति अनन्त हो जाती है। वे क्रमशः समाचारपत्र

निकालते हैं अथवा पुराने प्रसिद्ध समाचारपत्रों को ऊंचा मूल्य देकर खरीद लेते हैं। स्वतंत्र समाचारपत्रों को विज्ञापन देकर अथवा उन्हे आर्थिक सहायता देकर अपने प्रभाव मे कर लेते हैं। इस प्रकार प्रेस पर उनका अधिकार हो जाता है। समाचारपत्रों के द्वारा वे जनसाधारण के विचारों को प्रभावित करते हैं। यही नहीं, वे भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों को खरीद लेते हैं। आज के जनतंत्र में बिना किसी राजनीतिक दल को सगठित किए कोई गति नहीं है। और राजनीतिक दलों को सगठित करने के लिए कल्पनातीत धन चाहिये। आज के चुनाव अभियान अत्यन्त व्ययसाध्य होते हैं। उनको साधारण राजनीतिज्ञ नहीं लड सकता। अतएव राजनीतिज्ञो को धन-प्राप्ति के लिए इन धन-कुबेरों की शरण मे जाना पड़ता है।

यह धन-कुबेर राजनीतिक दलों को खरीद लेते हैं और जो भी सरकार होती है वह एक प्रकार से इन धन-कुबेरों के इगित पर अपनी नीति निर्धारित करती है। साधारण व्यक्ति समझता है कि आज जनतंत्र है, उसका भी महत्त्व है और उसके प्रतिनिधि शासन करते हैं, परन्तु वास्तव मे शासन यह धन-कुबेर करते हैं, मत्रिमंडल पर इनका बहुत गहरा प्रभाव होता है। अतएव इन धन-कुबेरों के पास इतनी अधिक आर्थिक सत्ता आ जाती है कि वे प्रजातंत्र को एक व्यग बना देते है।

दक्षिण अफ्रीका मे जो किम्बरले तथा जोन्हसवर्ग में हीरों की खानों की स्वामिनी डी-बियर्स कम्पनी है और उसके पास हीरे की खानों का एकाधिकार है वास्तव मे दक्षिणी अफ्रीका की स्वामिनी है। कोई भी राजनीतिक दल बिना उसके समर्थन के नहीं टिक सकता। इस प्रकार पूंजीपति ही वहा के सर्वेसर्वा बन गए हैं। प्रत्येक देश मे जहा निजी धधे पनपते हैं और औद्योगिक विकास होता है एक प्रबल पूंजीपति वर्ग का उदय हो जाता है जिसके पास अनन्त धन राशि एकत्रित हो जाती है। इस आर्थिक शक्ति का उपयोग वह अपने सामाजिक तथा राजनीतिक प्रभाव को बढ़ाने में करता है और देखते-देखते वह देश पर छा जाता है। प्रत्येक क्षेत्र में उनका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगता है। और सर्वसाधारण की राज-

नीतिक तथा आर्थिक स्वतत्रता का अन्त हो जाता है ।

आर्थिक जीवन पर तो इन पूजीपतियो का एकछत्र साम्राज्य स्थापित हो जाता है । बैंक, बीमा कम्पनिया, रेलें, जहाजी कम्पनिया, समाचारपत्र सभी उनके अधिकार में आ जाते हैं कोई, भी छोटा व्यापारी उनकी प्रतिस्पर्धा मे नही टिक सकता । राज्य सरकारो ने ऐसे कानून बनाये कि इस प्रकार के ट्रस्ट स्थापित न हो सके। परन्तु वे कानून व्यर्थ रहे, उनका कोई प्रभाव नही पडा । पूजीपति राज्यो की नीति को निर्धारित करने लगे । इस कारण बुद्धिवादी वर्ग मे उनके विरुद्ध क्षोभ जागृत हुआ और धधो के राष्ट्रीयकरण की माग उठने लगी । आज प्रत्येक देश में पूजीवाद का विरोध हो रहा है और पूजीवाद अपने बचाव के लिए अपने स्वरूप मे थोडा परिवर्तन लाने का प्रयत्न कर रहा है ।

भारत मे भी पूजीवाद का उदय प्रथम महायुद्ध के पास हुआ और कतिपय उद्योगपतियो की आर्थिक शक्ति बढ गई । परन्तु द्वितीय महायुद्ध के समय उनकी शक्ति और प्रभाव बहुत अधिक हो गया । आज देश में अधिकाश धधो पर कतिपय उद्योगपतियो का स्वामित्व स्थापित हो चुका है ।

अध्याय नवाँ

पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में श्रमजीवी वर्ग

आज हम देखते हैं कि आए दिन श्रमिकों तथा पूंजीपतियों का संघर्ष होता रहता है। कहीं लम्बी-लम्बी हड़तालें होती हैं तो कहीं फैक्टरियों के स्वामी उनका विरोध करते हैं। सारा वातावरण क्षुब्ध हो जाता है और समाज को कल्पनातीत आर्थिक हानि उठानी पड़ती है। आज तो ऐसा प्रतीत होने लगा है कि मालिक और मजदूरों का यह संघर्ष अनादि है, वह कभी समाप्त होने वाला नहीं है। परन्तु औद्योगिक क्रांति के पूर्व ऐसा नहीं था। फैक्टरी अवस्था के पूर्व जब कारीगर श्रमिक नहीं बना था—स्वतन्त्र रूप से *धनोत्पत्ति करता था, तो यह औद्योगिक अशांति कहीं भी* दृष्टिगोचर नहीं होती थी। धनोत्पत्ति का कार्य बिना किसी संघर्ष के शांति-पूर्वक होता चलता था।

उस समय केवल औद्योगिक संघर्ष ही नहीं होता था वरन आधुनिक ढंग के मजदूर-संघों का भी अभाव था। आज जो हम मिल मालिक संघ, चैम्बर आव कामर्स के रूप में पूंजीपतियों का एक पृथक् शिविर देखते हैं और मजदूर-संघों का एक दूसरा शिविर देखते हैं उसका औद्योगिक क्रांति के पूर्व कोई अस्तित्व ही नहीं था। पूंजीपति और श्रमिक दो विरोधी शिविरों में बटे हुए नहीं थे। कारीगर संघ मालिक और श्रमिक दोनों के हितों की समान रूप से रक्षा करते थे। कभी औद्योगिक अशांति का दृश्य उपस्थित नहीं होता था।

जब उत्पादन कुटीर धंधों में कारीगरों के द्वारा होता था, तब आधुनिक ढंग के मजदूर-संघों का सर्वथा अभाव था। सच तो यह है कि उस समय श्रमिकों के संगठन की आवश्यकता ही नहीं थी। कारण यह था कि कारीगर स्वयं कोई पूंजीपति नहीं था। वह बहुत अल्प मात्रा में वस्तुओं

को तैयार करता था, उसके पास उसके धधे के थोडे से औजारो के अतिरिक्त अन्य कोई पूजी नही होती थी । अधिकतर वह स्वय अपने निज के श्रम तथा परिवार वालो के श्रम से वस्तुओ का निर्माण करता था और व्यापारियो को अथवा समीपवर्ती बाजार में ग्राहको को बेच देता था । अधिकतर तो वह श्रमिको को रखता ही नही था और यदि कोई युवक उस धधे को सीखने के उद्देश्य से उसके यहा काम करता भी था अथवा स्वामी कारीगर किसी प्रशिक्षित मजदूर कारीगर को अपनी सहायता के लिए मजदूरी पर रखता भी था तो वह उनका आर्थिक शोषण करने की कभी कल्पना भी नही कर सकता था । यदि वह अपने शिष्य कारीगर अथवा मजदूर कारीगर का आर्थिक शोषण करना भी चाहता तो तत्कालीन औद्योगिक सगठन इस प्रकार का था कि यह कर सकना उसके लिए सम्भव ही नही था । स्वामी में उस समय आर्थिक शोषण की शक्ति ही नही थी, वह शक्तिहीन था ।

स्वामी कारीगर की शक्तिहीनता का प्रथम कारण तो यह था कि प्रशिक्षण के लिए आया हुआ शिष्य कारीगर अथवा प्रशिक्षित मजदूर कारीगर बहुधा उसी के गाव या कस्बे का रहने वाला होता था और बहुत करके उसके पडोसी, मित्र या सम्बन्धी का पुत्र या भाई होता था । अतएव समाज के सामाजिक और नैतिक प्रभाव के कारण स्वामी कारीगर अपने श्रमिको के साथ दुर्व्यवहार नही कर सकता था । इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह भी था कि स्वामी कारीगर अपने शिष्य कारीगर अथवा मजदूर कारीगर के साथ निरतर स्वय भी कार्य करता था । अतएव वह मजदूर के जीवन से, उसकी कठिनाइयो से, उसके दुख-सुख से और उसकी मानसिक तथा शारीरिक अवस्था से पूर्ण रूप से अवगत होता था । इस कारण अपने शिष्य या मजदूर कारीगर की ओर स्वामी कारीगर का दृष्टि-कोण सहानुभूतिपूर्ण होता था । केवल इन्ही कारणो से स्वामी कारीगर शिष्य या मजदूर कारीगरो के साथ सद्व्यवहार नही करता था वरन् उसका स्वार्थ भी इसीमें निहित था कि उसके सम्बन्ध अपने अधीन काम

करने वाले शिष्य कारीगरो अथवा मजदूर कारीगरो के साथ अच्छे और मधुर रहें। उदाहरण के लिए यदि स्वामी कारीगर किसी शिष्य कारीगर अथवा मजदूर कारीगर से अत्यधिक कार्य लेना चाहे, उसे प्रचलित पारिश्रमिक से कम मजदूरी देना चाहे अथवा उसके साथ बुरा व्यवहार करे तो उसके कारीगर उसकी नौकरी छोडकर या तो स्वतत्र रूप से अपना कारबार स्थापित करके उससे प्रतिस्पर्धा कर सकते थे अथवा किसी दूसरे गाव या कस्बे मे किसी अन्य कारीगर के यहा सेवा कर सकते थे। उस समय स्वतत्र रूप से कारबार चलाने में अधिक पूजी की आवश्यकता नही थी और न कारबार में आज जैसी जोखिम ही थी। स्वामी कारीगर के कठोर दुर्व्यवहार का परिणाम यह हो सकता था कि उसका व्यवसाय ठप्प हो जावे। उसके लिए यह सम्भव नही था कि उसके अधीन जो एक-दो सहायक कारीगर काम करते थे उनके स्थान पर दूसरे अकुशल श्रमिक को रख ले। क्योकि उस समय धधे की पूरी शिक्षा प्राप्त करने के लिए बहुत अधिक समय तक प्रशिक्षित होना पडता था। कल्पना कीजिए कि किसी बढई का सहायक नौकरी से त्यागपत्र दे दे तो उसे शीघ्र कोई सहायक नहीं मिल सकता था। नये सहायक को तैयार करने मे कम से कम तीन-चार वर्ष चाहिए, तभी वह कारीगर बन सकता था। अतएव यदि मालिक उस समय शिष्य या मजदूर कारीगर को अपनी सेवा से मुक्त कर देता था तो मजदूर कारीगर की इतनी आर्थिक हानि नही थी जितनी कि मालिक कारीगर की हानि थी। दूसरे शब्दो मे उस समय स्वामी श्रमिक के लिए उतना आवश्यक नही था जितना श्रमिक स्वामी के लिए महत्त्वपूर्ण और आवश्यक था। ऐसी दशा मे स्वामी श्रमिक के साथ सद्व्यवहार करने पर विवश था।

उस काल में यह भी सम्भव नही था कि स्वामी मजदूरो से अधिक लम्बे समय तक काम ले सके। पहला कारण तो यह था कि स्वामी को श्रमिकों के साथ-साथ स्वय भी काम करना पड़ता था, अतएव वह उनसे बहुत अधिक लम्बे समय तक काम नही ले सकता था और दूसरा महत्त्वपूर्ण

कारण यह था कि उस समय विद्युत का आविष्कार नही हुआ था, अतएव रात्रि में कार्य नही हो सकता था। कार्य के घटे केवल दिन मे ही निर्धारित हो सकते थे। सूर्य का यथेष्ट प्रकाश जब तक रहे तभी तक कार्य हो सकता था। प्रातःकाल सूर्य उदय होने से सूर्यास्त के पहले जो समय होता था उसमें से दैनिक कार्यों से निवृत्त होने, भोजन और विश्राम के समय को निकाल कर जो समय बचता था वही कार्य का समय होता था। एक प्रकार से प्रकृति ने कार्य के घटो को स्वय निर्धारित कर दिया था। यदि स्वामी कारीगर मजदूर कारीगरो से अधिक घटे काम लेना भी चाहता तो भी यह सम्भव नही था।

तत्कालीन उत्पादन पद्धति मे श्रमिको को एक सुविधा और भी थी। सारा कार्य औजारो की सहायता से मजदूर स्वय अपने हाथ से करते थे। यत्रो का तब तक आविष्कार नही हुआ था। अतएव कार्य की गति श्रमिक स्वय निर्धारित करते थे स्वामी कारीगर कार्य की गति को निर्धारित नही कर सकता था। इस कारण इस बात की तनिक भी सम्भावना नही थी कि स्वामी-कारीगर कार्य की गति को अधिक तीव्र करके मजदूर कारीगर पर अत्यधिक कार्य भार डाल सके जो उसके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो।

स्वामी कारीगर के पास भी कोई अधिक पूजी नही होती थी। उस समय धधे मे बहुत कम पूजी की आवश्यकता होती थी। शिष्य कारीगर अथवा मजदूर कारीगर कुछ समय तक प्रशिक्षण तथा अनुभव प्राप्त करके तथा थोडी सी पूजी इकट्ठी कर स्वतत्र धधा स्थापित करते थे और वे स्वय स्वामी कारीगर बन जाते थे। अतएव उन्हे कुछ वर्षों तक ही श्रमिक का जीवन व्यतीत करना पडता था। अस्तु उन दिनो श्रमिक की स्थिति आज जैसी दयनीय नही थी, उसका शोषण इतना सरल नही था। वास्तव मे उन दिनो स्वामी कारीगरो और शिष्य तथा श्रमिक कारीगरो के हितो में कोई विरोध नही था, उनके हित समान थे। यही कारण था उनमें कोई सघर्ष नही होता था, उनके स्वार्थ आपस में टकराते नही थे। उस समय

यदि कोई संघर्ष या विरोध था तो कारीगरों और उन व्यापारियों के स्वार्थों में था जिनको कारीगर माल बेचता था। अधिकतर तो कारीगर स्वयं अपने माल को गांव तथा कस्बे में बेच देता था, किन्तु जो कारीगर अत्यन्त मूल्यवान वस्तुएं तैयार करते थे उन्हें व्यापारियों के हाथ अपना माल बेचना पड़ता था। परन्तु उन व्यापारियों के विरुद्ध कारीगर कोई संगठन कर ही नहीं सकते थे, क्योंकि कारीगर भिन्न-भिन्न स्थानों पर बिखरे होते थे, वे कभी संगठित हो ही नहीं सकते थे। उनके संगठित न होने का दूसरा कारण यह भी था कि कारीगर व्यापारियों का मजदूरी पाने वाला सेवक नहीं था, वह स्वतन्त्र कारीगर था। व्यापारी उसे केवल माल तैयार करने का आर्डर देता था और तैयार माल को उससे खरीद लेता था। अतएव व्यापारी से आर्डर प्राप्त करने के लिए कारीगर स्वयं आपस में प्रतिस्पर्धा करते थे। यही कारण था कि उन श्रमिकों का कोई व्यापक संगठन नहीं बन सका।

किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त जब बड़ी मात्रा का उत्पादन कार्य होने लगा, भीमकाय पुतलीघर और कारखाने स्थापित किए गए, और उनमें भाप के द्वारा संचालित यंत्रों पर वस्तुओं का बहुत बड़ी मात्रा में निर्माण होने लगा, तो स्थिति बदल गई। कारीगर की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई।

स्वतन्त्र कारीगर की स्थिति में पहला परिवर्तन तो यह हुआ कि वह सदैव के लिए वेतनभोगी श्रमिक की श्रेणी में आ गया। फैक्टरी या बड़े कारखाने की प्रतिस्पर्द्धा में स्वतंत्र कारीगर न टिक सका और उसको अपने धंधे को छोड़कर कारखाने में श्रमिक के रूप में कार्य करने जाना पड़ा। फैक्टरी अवस्था में सुदूर भविष्य में भी यह सम्भावना नहीं हो सकती कि कोई श्रमिक इतनी पूंजी एकत्रित कर सके कि वह स्वयं एक अपना कारखाना स्थापित कर सके। अतएव सदैव के लिए वह कारखाने पर आश्रित वेतन-भोगी श्रमिक बन गया और उसकी स्वतंत्र आर्थिक सत्ता समाप्त हो गई। सच तो यह है कि औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त ही एक स्थायी श्रमिक या

सर्वहारा वर्ग का उदय हुआ। कारखाने में कौनसी वस्तु का निर्माण होगा, किस प्रकार का यत्र उपयोग मे लाया जावेगा, कौन सी डिजाइन बनाई जावेगी, तैयार माल की बिक्री की क्या व्यवस्था होगी, इससे श्रमिक का कोई सम्बन्ध नही रहा। वह तो मालिक द्वारा निर्धारित वस्तु का, उसके यंत्रो पर उसके कर्मचारियो के निरीक्षण मे, केवल उत्पादन मात्र करने वाला यत्र मात्र रह गया और उस श्रम के पारिश्रमिक रूप उसे कुछ मजदूरी मिलने लगी।

श्रमिक की स्थिति मे दूसरा परिवर्तन यह हुआ कि उसे अपने घर को छोड कर मजदूरी करने वहा जाना पडा कि जहा कारखाना स्थापित किया गया हो। पहले वह अपने झोपडे मे अपने परिवार के सदस्यो की सहायता से अपना धधा चलाता था। उनके बीच में काम करने से उसे एक मानसिक सतोष और सुख मिलता था और उसके परिवार का सहज स्नेह उसे मिलता रहता था। किन्तु कारखाने में श्रमिक बन जाने पर उसका यह सुख और सतोष समाप्त हो गया। अब तो वह अपने परिवार वालो से पृथक्, घर से दूर, कारखाने में जडवत् यत्रो पर काम करने लगा।

औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त बडी मात्रा के उत्पादन का एक परिणाम यह हुआ कि उद्योग-धधो का केन्द्रीकरण हुआ। कुछ विशेष स्थानो पर धधे केन्द्रित हो गए। देखते-देखते वहा बहुत बडे औद्योगिक केन्द्र स्थापित हो गए। लाखो की सख्या मे वहा श्रमिको की भीड एकत्रित हो गई। रहने के लिए स्थान का अभाव हो गया। निर्धन श्रमिको को सर छिपाने के लिए स्थान का भी अभाव हो गया। कारखानो मे काम करने वाले श्रमिक औद्योगिक केन्द्रो में नारकीय जीवन व्यतीत करने लगे। उन्हें प्रकृति दत्त जल, वायु, प्रकाश और धूप भी मिलना कठिन हो गया। उन्हे ऐसे गन्दे मकानो मे रहना पडता था कि जिनमे रह कर कोई भी व्यक्ति अपने स्वास्थ्य को गिरने से नही बचा सकता था। औद्योगिक केन्द्रो मे निवास स्थान की समस्या भयावह हो उठी।

कारखानो में शक्ति-सचालित यत्रो पर श्रमिक को कार्य करना पड़ता

है। यंत्रो को किस गति से चलाया जावे इसको मिल मालिक निर्धारित करता है, श्रमिक यत्रो पर कार्य की गति का निर्धारण नही करता। अतएव मिल के प्रबन्धक कार्य की गति को जितनी भी सम्भव हो सके उतनी तीव्र रखने का प्रयत्न करते है, जिससे कम से कम समय मे अधिक से-अधिक उत्पादन हो। परन्तु कार्य की गति को अधिक तीव्र करने से श्रमिक का कार्य-भार अत्यधिक हो जाता है और उसका स्वास्थ्य क्षीण होने लगता हैं। शक्ति से अधिक कार्य करने के कारण वह शीघ्र ही क्षीण हो जाता है और उसका जीवन छोटा हो जाता हैं।

औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त विद्युत का आविष्कार होने से रात्रि को भी कारखानो मे काम होने लगा। अतएव यदि मिल मालिक पर कोई प्रतिबन्ध न होता तो वह प्रत्येक श्रमिक से अधिक से अधिक काम लेने का प्रयत्न करता। आरम्भ मे जब कारखानो में कितने घटे काम लिया जावे इस पर कोई प्रतिबन्ध नही था तो श्रमिको को प्रतिदिन पद्रह और सोलह घटे तक काम करना पडता था।

आधुनिक कारखानो में कारीगर की भाति एक या दो श्रमिक नहीं हजारो की सख्या मे श्रमिक नौकर रक्खे जाते है। यह श्रमिक यत्रो द्वारा भिन्न-भिन्न उत्पादन क्रियायें करते हैं। आज के उत्पादन में श्रम-विभाजन इतना अधिक सूक्ष्म हो गया है कि कारखाने के प्रत्येक विभाग में एक साधारण सूक्ष्म उपक्रिया मात्र होती है जिसे मशीन की सहायता से श्रमिक करता है। उस सूक्ष्म उपक्रिया के लिए श्रमिक को किसी लम्बे प्रशिक्षण की आवश्यकता नही होती। कोई भी श्रमिक उसे दो-चार दिन में सीख सकता है, अतएव यदि श्रमिक कारखाने की नौकरी छोड़ दे तो कारखाने के मालिक को कोई कठिनाई नही हो सकती। वह अन्य व्यक्तियो को भर्ती करके उनसे काम ले सकता है। इसके अतिरिक्त मालिक के लिए किसी एक श्रमिक का कोई भी महत्त्व नही है। यदि एक अथवा दस-बीस मजदूर इस विचार से कि मालिक का व्यवहार ठीक नही है, अथवा वह उचित वेतन नही देता, काम करना छोड़ दे तो मिल मालिक को कोई हानि नही हो सकती, उसका

कार्य नही रुक सकता । इसके विपरीत यदि मालिक कतिपय मजदूरो को अपनी सेवा से मुक्त कर दे तो वह श्रमिक, कुछ समय के लिए ही सही, बेकार हो जाता है । अतएव आज की फैक्टरी अवस्था मे मिल मालिक के हाथ में शोषण की अनन्त शक्ति आ गई है ।

मालिक की तुलना मे श्रमिक अत्यन्त निर्बल है, वह मालिक से अपने वेतन के सम्बन्ध मे मोल-भाव नही कर सकता क्योकि उसका श्रम जिसे वह मालिक को बेचना चाहता है अति शीघ्र नाश होने वाली वस्तु है । कल्पना कीजिए कि यदि कोई श्रमिक, जो समझता है कि उसे उचित वेतन नहीं दिया जा रहा है, कार्य करना अस्वीकार कर देता है और पद्रह दिन बेकार रह जाता है क्योकि उसको उचित वेतन या मजदूरी नही मिलती तो उन पद्रह दिनो की मजदूरी की सदैव के लिए हानि हो जाती है क्योकि वे पद्रह दिन उसके जीवन काल में से कम हो गए । अस्तु मजदूर को जो भी वेतन या मजदूरी मालिक देता है उसे स्वीकार करना पडता है, वह अधिक मोल-भाव नही कर सकता ।

औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भ मे मालिको ने अपनी शोषण शक्ति का भयकर दुरउपयोग किया । कारखानो मे अत्यधिक भीड रहती, उनमें स्थान, वायु, और प्रकाश की भयकर कमी थी । काम के घटे बहुत अधिक लम्बे थे । छोटे-छोटे बच्चो से भी बारह घटो से अधिक काम लिया जाता था, प्रौढो से तो सोलह घटे तक काम लिया जाता था । रहने को केन्द्रो मे कोई व्यवस्था नही थी । श्रमिक पशुओ की भाति अत्यन्त गदे स्थानो पर रहते थे । उन्हे मालिक जितना कम वेतन दे सकता देता था । इस भयकर शोषण का परिणाम यह हुआ कि श्रमिक का स्वास्थ्य शीघ्र ही गिर जाता था और उसका जीवन शीघ्र ही समाप्त हो जाता । एक प्रकार से उस समय कारखाने नर बलि के स्थान थे जहा कुछ समय कार्य करके मनुष्य अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता था ।

परन्तु जहा फैक्टरी पद्धति के प्रादुर्भाव से मजदूरो की तुलना में मिल मालिक बहुत ही शक्तिवान हो गया, वहा उसी पद्धति मे भावी श्रमिक

आन्दोलन और श्रमजीवी सगठन के बीज मौजूद थे। जब प्रात काल कारखाने का भोपू बोलता है और दूर-दूर से श्रमिक झुड के झुड एक साथ सब दिशाओ से आकर कारखाने के फाटक पर इकट्ठे होते है, उस समय वे आपस में कारखाने के सम्बन्ध मे ही बात करते है। उनके क्या दु ख-दर्द है, उनके लिए किन सुविधाओ की आवश्यकता है, इत्यादि प्रश्नो पर वे परस्पर वार्तालाप करते है। दिन भर कारखाने मे एक साथ काम करने के उपरान्त सायकाल को छुट्टी की सीटी बजने पर जब श्रम से क्लात थके हुए श्रमिक धीरे-धीरे अपने घरो की ओर हजारो की सख्या मे लौटते है तो वे स्वभावत अपनी स्थिति के सम्बन्ध मे चर्चा करते है। श्रमिक बहुधा एक स्थान पर ही रहते है। उनकी बस्तिया ही पृथक् होती है अतएव उन्हे सदैव परस्पर विचार-विमर्श करने का अवसर मिलता रहता है। यह स्वाभाविक बात है कि जब हजारो की सख्या मे श्रमिक मिले तो अपनी दयनीय स्थिति, कारखाने में होने वाली कठोरता तथा दुर्व्यवहार, कम वेतन, और मालिको के शोषण के सम्बन्ध में बातचीत हो। यही से आधुनिक श्रमजीवी आन्दोलन तथा श्रमजीवी सगठन का जन्म हुआ।

आरम्भ मे श्रमजीवी आन्दोलन ब्रिटेन में हुआ क्योकि सर्वप्रथम औद्योगिक क्राति भी उसी देश में हुई थी और फैक्टरियो की स्थापना भी सर्वप्रथम उसी देश में हुई। किन्तु उस समय व्यवसायी पूजीपतियो का शासन पर प्रभाव था अतएव राज्य ने कानून बनाकर मजदूरो के सगठन को गैर-कानूनी घोषित कर दिया। उनके विरुद्ध षड्यत्र का आरोप लगाया गया और उनके नेताओ को कठोर दड दिया गया और श्रमिको का भयकर दमन किया गया। इस दमन का परिणाम यह हुआ कि मजदूरो के गुप्त संगठन स्थापित हुए। नेता लोग भूगर्भस्थ रहते थे और श्रमिको का नेतृत्व करते थे। साधारण श्रमिक उनको जानता भी नही था किन्तु उनकी आज्ञा का पालन होता था। प्रत्येक श्रमिक को संघ का सदस्य बनते समय शपथ लेनी पड़ती थी कि वह सघ की हलचल को किसी पर प्रकट नही करेगा। इस प्रकार जहा-जहां आरम्भ

में मजदूर आन्दोलन के विरुद्ध कानून बनाये गए वहा-वहा उसी प्रकार के गुप्त सगठन खडे हो गए।

जर्मनी मे जब मजदूर सगठन के विरुद्ध कानून बनाया गया तो वहा भी मजदूरो के गुप्त सगठन खडे हो गए। गुप्त रूप से वहा प्रबल आन्दोलन चलाया गया। मजदूर कार्यकर्ता लगातार अपने सिद्धान्तो और विचारो का प्रचार करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि वहा दो क्रातिकारी सगठन स्थापित हुए। प्रथम "कानून विरोधियो का सघ" दूसरा "कम्यूनिस्ट सघ"। इसी सघ ने जगत-प्रसिद्ध "कम्यूनिस्ट मैनिफैस्टो" प्रकाशित किया था।

फ्रास मे भी आरम्भ में मजदूर सगठनो को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया था किन्तु फिर भी गुप्त रूप से वे कार्य करते रहे।

भारत में वास्तव में मजदूर आन्दोलन और मजदूर सगठन का प्रादुर्भाव १९२० के बाद हुआ जबकि प्रथम महायुद्ध के फलस्वरूप श्रमिक वर्ग मे अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न हुई।

आरम्भ मे सभी देशो मे मजदूर आन्दोलन और मजदूर सगठनो का कडा विरोध हुआ। उनको षडयन्त्रकारी सस्थाए घोषित किया गया, उनका दमन किया गया। परन्तु आन्दोलन समाप्त नही हुआ।

परन्तु जैसे-जैसे औद्योगिक क्राति से उत्पन्न होने वाली श्रमजीवी समस्याए भयकर होती गई और सर्वसाधारण ने मजदूरो की दयनीय दशा को देखा वैसे-वैसे उनकी सहानुभूति मजदूरो के प्रति बढती गई और राज्य का कडा रुख कुछ नरम पडा। प्रथम ब्रिटेन में और बाद को अन्य देशो में मजदूर सगठन की छूट दे दी गई और मजदूर तेजी से सगठित हो गए।

मजदूर आन्दोलन के दो मुख्य लक्ष्य थे। एक लक्ष्य तो यह था कि वे मिल मालिको से अधिक से अधिक सुविधाए, अच्छा वेतन और काम के घटो मे कमी प्राप्त करे और दूसरा लक्ष्य यह था कि वह शासन-यत्र पर अपना प्रभाव डालकर मजदूर-हित के कानून बनवाकर मजदूरो के स्वार्थों की रक्षा करे। कालान्तर मे मजदूर आन्दोलन का लक्ष्य यह भी बन गया कि वे शासन-यत्र पर अधिकार करके समाज के ढाचे में मूलभूत परिवर्तन

कर दें, जिससे कि समाज में शोषण समाप्त हो जावे। इस प्रकार मजदूर आन्दोलन के दो पक्ष आरम्भ से ही प्रकट हो गए। एक पक्ष औद्योगिक था, और दूसरा राजनैतिक था। औद्योगिक सुख-सुविधाएं प्राप्त करने के लिए मजदूर-संघ मालिको से बातचीत करते है, आवश्यकता पडने पर हड़ताल करते और सरकार पर प्रभाव डालकर कानून बनवाते हैं। समाज के ढाचे में मूलभूत परिवर्तन लाने के लिए मजदूर आन्दोलन चुनाव के द्वारा अथवा क्राति के द्वारा शासन-यत्र पर अपना अधिकार करने मे विश्वास रखता है।

औद्योगिक मजदूर आन्दोलन को पहले तो राज्य के दमन का शिकार होना पडा परन्तु जब उन्हे सगठन की छूट मिल गई तो उन्हे पूजीपतियो के सगठित विरोध का सामना करना पडा। उनके एकमात्र अस्त्र "हड़ताल" को पूजीपतियो ने न्यायालयो मे चुनौती दी और कई देशो में न्यायालयो ने "हड़ताल" को गैरकानूनी घोषित कर दिया। किन्तु तब तक श्रमजीवी आन्दोलन सबल हो गया था और सर्वसाधारण में उनके शुभचितक उत्पन्न हो गए थे। अतएव राज्य-सरकारो ने कानून बनाकर मजदूर-संघो का हड़ताल का अधिकार सुरक्षित कर दिया।

क्रमशः सर्वसाधारण, शासको, तथा स्वय पूजीपतियो की समझ में यह आ गया कि औद्योगिक अशान्ति और मालिक-मजदूर संघर्ष को कम करने के लिए यह आवश्यक है कि एक सबल मजदूर सगठन का निर्माण हो। यही कारण है कि क्रमश राज्य-सरकारें तथा व्यवसायी पूजीपति मजदूरो के सघो को मान्यता देने लगे। आरम्भ मे तो व्यवसायी पूजीपति मजदूर-संघो का मजदूरो का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार ही स्वीकार नही करते थे। इसके लिए भी श्रमजीवी सगठनो को सघर्ष करना पडता था। कालान्तर में मालिक मजदूर-सघो को मान्यता देने लगे और कही-कही तो मजदूर-संघों ने मालिको से यह स्वीकार करवा लिया है कि वे अपने कारखाने मे किसी ऐसे श्रमिक को नही रक्खेगे जो कि मजदूर-संघ का सदस्य नही है।

मजदूर-संघो के सतत प्रयत्न तथा उनके आन्दोलन के परिणामस्वरूप

आज दिन मजदूरो को बहुत सी सुविधाये प्राप्त है और उनके हितो की रक्षा होती है। उदाहरण के लिए प्रत्येक देश मे आज फैक्टरी अधिनियम बन गए है। फैक्टरी कानून के अनुसार कामके घटे निर्धारित कर दिए गए हैं। कारखाने के मालिक उससे अधिक काम मजदूरो से नही ले सकते। ससार के भिन्न-भिन्न देशो मे सात या आठ घटे प्रतिदिन निर्धारित कर दिए गए है। भारत मे कारखानो मे कोई प्रौढ श्रमजीवी सप्ताह मे ४८ घटे से अधिक काम नही कर सकता। कानून द्वारा यह निश्चित कर दिया गया है कि चौदह वर्ष से कम के बालक कारखानो मे काम नही कर सकते और जब तक वे प्रौढ न हो जावे उनके काम के घटे कम रक्खे गए है। स्त्री मजदूरो को रात्रि में काम करने की मनाही कर दी गई है और जोखिम के कार्यों मे तथा खानो के अन्दर उनसे कार्य नही लिया जा सकता।

कारखाने की इमारत कैसी हो, उसमे मजदूरो की सुरक्षा और स्वास्थ्य के लिए किन सुविधाओ की आवश्यक्ता है इसका भी कानून मे उल्लेख कर दिया गया है। जहा मजदूर कार्य करता है वहा उसे क्या-क्या सुविधाये चाहिए इसकी भी राज्य द्वारा कानून से व्यवस्था की जाती है।

काम करते हुए यदि मजदूर को चोट लग जावे, उसका अग-भग हो जावे, अथवा उसकी मृत्यु हो जावे, तो मालिक को क्षतिपूर्ति करनी पडती है। स्त्री मजदूरो को गर्भावस्था मे प्रसव का सवेतन अवकाश दिया जाता है। उनके बच्चो की देखभाल के लिए कारखानो मे शिशुगृहो की व्यवस्था होती है।

कानून द्वारा सरकार ने न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर दी है। निर्धारित न्यूनतम मजदूरी से कम मजदूरी कोई मालिक मजदूर को नही दे सकता। आज प्रत्येक सभ्य और उन्नत राष्ट्र में न्यूनतम मजदूरी कानून बन गए है।

इसके अतिरिक्त सामाजिक सुरक्षा की भी सभी देशो में योजनायें कार्यान्वित की जा रही है। बेकारी के समय, बीमारी के समय, वृद्धावस्था मे, मजदूर को पेशन या भत्ता दिया जाता है। पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था में अनायास ही कभी भीषण आर्थिक मदी प्रकट होती तो कभी आर्थिक धूम दृष्टिगोचर होती है। आर्थिक मदी के समय कारखानो में मजदूरो की छटनी कर दी जाती

है और मजदूर अकारण ही बेकार हो जाता है। अतएव सामाजिक सुरक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है। मजदूरो के स्वास्थ्य का बीमा किया जाता है।

औद्योगिक केन्द्रो में मजदूरो को पशुवत् जीवन न व्यतीत करना पड़े इसके लिए मजदूर बस्तियो का निर्माण किया जाता है और श्रमजीवी कल्याण केन्द्र स्थापित किये जाते हैं कि जिसमे निर्धन मजदूर के जीवन मे तनिक प्रसन्नता और मनोरजन के क्षण भी उपस्थित हो।

फैक्टरी कानूनो का पालन हो रहा है या नही उसके लिए फैक्टरी निरीक्षक नियुक्त किये जाते है जो फैक्टरियो का निरीक्षण करते है।

परन्तु यह सब सुविधाये केवल मागने से ही प्राप्त नही हो गई। इसके लिए मजदूर-सघो को सतत प्रयत्न और सघर्ष करना पडा है। मजदूर-सघो की कार्य-प्रणाली के तीन मुख्य अग है। (१) रचनात्मक कार्य, (२) पूजीपतियो से अधिक से अधिक सुख-सुविधाये मजदूरो के लिए प्राप्त करना और उनके साथ निरन्तर सघर्ष करना, (३) राजनीतिक कार्यक्रम जिसका उद्देश्य मजदूरो का शासन-यत्र पर आधिपत्य स्थापित करके समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना।

रचनात्मक कार्यक्रम के अन्तर्गत मजदूरो की सुख-सुविधा के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरजन, बेकारी तथा बीमारी में आर्थिक सहायता, रहने की सुविधा, सहकारी उपभोक्ता स्टोर, तथा नौकरी दिलाने के लिए ब्यूरो स्थापित करना, इत्यादि सभी कार्य मजदूर-सघ करता है।

पूजीपतियो से बातचीत करके मजदूरो के लिए उचित वेतन, अच्छा व्यवहार, रहने की सुविधा, उचित काम के घटे, सुरक्षा, तथा कारखाने मे अन्य सुविधायें प्राप्त करना और यदि बातचीत से अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त न हो तो पूजीपतियो से सघर्ष करना। सघर्ष की सर्वमान्य प्रणाली हड़ताल करना है। यही कारण है कि हम आये दिन औद्योगिक केन्द्रो मे हड़ताल के समाचार सुनते है। परन्तु हड़ताल से सभी को हानि होती है। मजदूरो को उतने दिनो का वेतन नही मिलता, उत्पादन रुक जाता है, अतएव मिल-मालिक और सर्वसाधारण को हानि उठानी पड़ती है। औद्योगिक

अशान्ति अथवा हडताल से समाज को भारी हानि उठानी पडती है। अतएव हडताल को बचाने के लिए सरकार औद्योगिक न्यायालय स्थापित करती है, और पच नियुक्त करती है जो दोनो पक्षो की बात सुनकर झगडे अथवा मतभेद के सम्बन्ध मे अपना निर्णय दे देते है। फिर भी मजदूर-सघो को बहुधा अपनी माग को स्वीकार करवाने के लिए सघर्ष करना ही पडता है।

राजनीतिक कार्यक्रम के अन्तर्गत अपने प्रतिनिधियो को व्यवस्थापिका सभाओ मे भेजकर मजदूरो के हितो को कानून बनाकर सुरक्षित करना तो मजदूर आन्दोलन का तात्कालिक उद्देश्य होता है। परन्तु अपने उद्देश्यो का प्रचार करके तथा शासन की बागडोर अपने हाथो में लेकर देश मे समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना अन्तिम लक्ष्य होता है। जो उग्र कम्यूनिस्ट विचार-धारा से अनुप्राणित मजदूर-सघ है, वे रक्तमय क्रान्ति के द्वारा देश के शासन-सूत्र को अपने हाथ में लेकर सर्वहारा वर्ग का देश मे अधिनायकत्व स्थापित कर समाज के ढाचे मे क्रान्तिकारी परिवर्तन कर देना चाहते हैं। ब्रिटेन तथा योरोप के कतिपय देशो मे मजदूर-सघो तथा समाजवादी दलो ने चुनाव के द्वारा अपने देश के शासन-सूत्र को अपने हाथ मे ले लिया परन्तु सोवियत रूस तथा चीन मे रक्तमयी क्रान्ति के द्वारा ही सर्वहारा वर्ग का अधिनाय-कत्व स्थापित हुआ था।

प्रत्येक देश मे मजदूर-आन्दोलन अपनी शक्ति के अनुसार ही अपने लक्ष्य की ओर बढ रहा है। जिस देश में मजदूर-आन्दोलन अधिक सबल है वह लक्ष्य के उतने ही अधिक समीप पहुच गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक श्रमजीवी आन्दोलन

श्रमजीवियो का राजनीतिक आन्दोलन केवल अपने देश की सीमा के अन्तर्गत ही सीमित नही रहा, उसने अन्तर्राष्ट्रीय रूप भी धारण किया। श्रमिको का राजनीतिक उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय सगठन स्थापित करने का लक्ष्य यह था कि यदि ससार भर के मजदूरो में वर्ग-चैतन्य उदय हो गया और वे संगठित हो गए तो सर्वहारा वर्ग के हाथो में अपने-अपने देशो की शासन

सत्ता आ जावेगी। इसी उद्देश्य से यह अन्तर्राष्ट्रीय सगठन स्थापित हुए थे।

प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक श्रमजीवी सगठन मार्क्स के प्रयत्नों से १८६४ मे स्थापित हुआ। १८६२ में नैपोलियन तृतीय ने फ्रेंच मजदूरो के एक प्रतिनिधिमडल को लदन मे प्रदर्शिनी देखने के लिए भेजा। मार्क्स उस समय लदन में ही था। उसने इस अवसर का लाभ उठाया और फ्रेंच प्रतिनिधियो से एक अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सगठन की स्थापना के सम्बन्ध में विचार विनिमय किया। फ्रेंच मजदूरो के सहमत होने पर १८६४ में मार्क्स ने एक अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सम्मेलन बुलाया और प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-सघ की स्थापना हुई। स्वयं मार्क्स ने इसका विधान बनाया और उसके संगठन में प्रमुख भाग लिया। कुछ ही वर्षों में योरोप के भिन्न-भिन्न देशो में उसकी शाखायें स्थापित हो गईं और इस अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सगठन के वार्षिक सम्मेलन होने लगे। इस अन्तर्राष्ट्रीय सगठन से पूंजीपतियों तथा उनसे प्रभावित अनुदार सरकारें आतकित और भयभीत हो गईं। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सघ कोई इतना प्रबल और शक्तिवान् सगठन नही था कि जिससे इतना भयभीत होने की आवश्यकता थी। आरम्भ से ही उसमे घोर मतभेद था और अराजकतावादी बकूनिन आरम्भ से ही मार्क्स को हटाकर उसका नेतृत्व अपने हाथ में लेना चाहता था। अन्त में १८७२ की काग्रेस मे दोनो दलो में कडा सघर्ष हुआ और बकूनिन को उसके समर्थको सहित सगठन से निकाल बाहर किया गया। परन्तु इस फूट के अनिष्ट प्रभाव से प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संघ अत्यन्त निर्बल और शक्तिहीन हो गया। उसकी सदस्यता और प्रतिष्ठा गिरती गई और निराश होकर मार्क्स उसके प्रधान कार्यालय को न्यूयार्क में ले गया जहा वह १८७६ में समाप्त हो गया।

द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का जन्म १८८९ में हुआ। उस वर्ष पैरिस में एक सम्मेलन हुआ जिसमें सभी देशों के समाजवादी प्रतिनिधि एकत्रित हुए थे। उक्त सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि प्रति तीसरे वर्ष इसी प्रकार के सम्मेलन किये जावें। ग्यारह वर्ष उपरान्त एक अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी ब्यूरो की ब्रूसल्स में स्थापना की गई जिसका उद्देश्य भिन्न-भिन्न देशो के

श्रमजीवी आन्दोलन का एक दूसरे से सम्बन्ध बनाये रखना था। १९१४ तक इस सगठन से चौबीस देशो के श्रमजीवी आन्दोलन सम्बन्धित हो चुके थे। इसी समय प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो गया और यह अन्तर्राष्ट्रीय सगठन समाप्त हो गया। परन्तु १९१९ मे इसका पुन सगठन किया गया और योरोप के देशो के अधिकाश समाजवादी दल इसे सम्बन्धित हो गए। इसका कार्य-क्रम वैधानिक उपायो से समाजवाद की स्थापना करना था।

तीसरा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी सघ अथवा कामिन्टर्न मास्को मे १९११ मे स्थापित हुआ। यह बोलशविक सगठन था जिसका लक्ष्य वर्ग-सघर्ष के द्वारा सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित करना था। योरोप के भिन्न-भिन्न देशो की कम्यूनिस्ट पार्टिया इससे सम्बन्धित थी। परन्तु इसकी शक्ति और प्रतिष्ठा सोवियत रूस के कारण तथा रूसी सरकार की सहायता और समर्थन के कारण थी। १९२४ मे स्टालिन के सत्तारूढ होने पर उसको क्रमश कम प्रोत्साहन दिया जाने लगा और १९४३ मे वह भग कर दिया गया।

एक बात ध्यान मे रखनी चाहिए। श्रमजीवी राजनीतिक आन्दोलन शत प्रतिशत श्रमजीवी नही होता,उसमे मध्यमवर्ग का सहयोग होता है और बहुधा नेतृत्व उन्ही के हाथ मे होता है। एक प्रकार से देखा जावे तो बुद्धिवादी मध्यम श्रेणी के व्यक्ति श्रमजीवियो का प्रयोग अपने राजनीतिक उद्देश्य को प्राप्त करने क लिए करते है। परन्तु मजदूर-सघ शुद्ध मजदूरो का सगठन होते है और उनका नेतृत्व भी उसी वर्ग के लोगो के हाथ मे होता है। अतएव औद्योगिक श्रमजीवी आन्दोलन ही श्रमजीवियो का शुद्ध आन्दोलन होता है।

यदि देखा जावे तो औद्योगिक श्रमजीवी आन्दोलन औद्योगिक क्रान्ति की देन है। *जब कि पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था का विकास उस सीमा तक हो* जाता है कि श्रमजीवी को मालिक बनने की कोई सम्भावना नही रहती, जबकि उसको यह भान हो जाता है कि वह सदैव के लिए मजदूरो की श्रेणी में रहेगा और पूजीपति की तुलना मे अत्यन्त निर्बल है तो वह आत्मरक्षा के लिए सगठित होता है और उसमें वर्ग-चैतन्य जागृत होता है। आज ससार के

प्रत्येक देश में औद्योगिक मजदूर सगठन स्थापित हो चुके हैं, किसी-किसी देश में तो वे अत्यन्त सबल और शक्तिवान् हैं।

मजदूर सगठन का ढाचा

मजदूर-सघो का रूप भिन्न-भिन्न होता है। परन्तु मोटे रूप मे दो प्रकार के मजदूर-सघ होते हैं। एक क्रिया (क्रैफ्ट) के अनुसार, दूसरे धधे के अनुसार। उदाहरण के लिए यदि वस्तु तैयार करने वाले धधे में बुनकरो का एक सघ हो, कत्तियो का दूसरा, तथा रगाई करने वालो का तीसरा तो हम इन्हे क्रिया के अनुसार सगठित मजदूर-सघ कहेगे। इनके विपरीत धधो के आधार पर सगठित यूनियन होती है। इस प्रकार की यूनियन की विशेषता यह है कि जो भी मजदूर उस धधे विशेष मे काम करता है फिर वह चाहे जो भी क्रिया करता हो, चाहे जिस विभाग में हो, वह उस सघ या यूनियन का सदस्य हो सकता है। आजकल अधिकाश यूनियन धधो के अनुसार सगठित है।

यूनियनो की फेडरेशन या संघ

प्रत्येक धधे में जो भिन्न-भिन्न औद्योगिक केन्द्रों की यूनियन हैं वे अपना एक राष्ट्रीय सघ बना लेती हैं। उदाहरण के लिए बम्बई अहमदाबाद, शोलापुर, कानपुर, नागपुर, मद्रास इत्यादि सूती वस्त्र व्यवसाय की यूनियनो ने "टैक्सटाइल लेबर फेडरेशन" का निर्माण किया है। इस प्रकार उस धधे में काम करने वाले सभी श्रमजीवी एक राष्ट्रीय सघ की अधीनता में सगठित हो जाते हैं।

किन्तु केवल भिन्न-भिन्न धधो के राष्ट्रीय सघो से ही समस्या का हल नहीं हो जावेगा। बहुत सी मजदूरो की समस्याए और प्रश्न ऐसे होते हैं, जोकि सभी धधो में काम करने वाले मजदूरो के लिए एक समान महत्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त मजदूरो के राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए, उनके हितो की रक्षा के लिए, एक मंच आवश्यक होता है। अतएव प्रत्येक देश में मजदूरो की कांग्रेस होती है जिसने सभी धंधो के राष्ट्रीय मजदूर-संघ तथा मजदूर यूनियनें सम्बन्धित होती हैं।

आजका मजदूर आन्दोलन शुद्ध औद्योगिक आन्दोलन नही रह गया हैं। उसका उद्देश्य केवल मजदूरो के लिए सुख-सुविधा तथा उचित पारिश्रमिक प्राप्त करना ही नही है वरन् उसका राजनीतिक लक्ष्य भी है। सच तो यह है कि भिन्न-भिन्न राजनीतिक विचारधाराओ वाले दल सगठित मजदूर-शक्ति का उपयोग अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के लिए करना चाहते है। उनका लक्ष्य शासन-सूत्र पर वैधानिक ढग से अथवा रक्तमय क्रान्ति के द्वारा अधिकार प्राप्त करना है और फिर समाज के ढाचे को बदल देना हैं। जो नरम समाजवादी विचार-धारा के राजनीतिक दल है वे वैधानिक ढग से शासन-सूत्र पर अधिकार करके उद्योग-धधो का राष्ट्रीयकरण कर देना चाहते है और उनका विश्वास है कि धधो का राष्ट्रीयकरण हो जाने से और मजदूरो की सरकार स्थापित हो जाने से मजदूरो को पूर्ण सुख-सुविधा, सम्मानपूर्ण जीवन तथा मानवोचित व्यवहार प्राप्त होगा और उनका जीवनमान बहुत ऊंचा उठ जायेगा।

कम्यूनिस्ट विचारधारा के लोगो की मान्यता है कि वैधानिक ढग से कभी-भी मजदूर वर्ग सत्तारूढ नही हो सकता, वर्ग-सघर्ष के द्वारा क्रान्ति के परिणामस्वरूप ही उनके हाथ में सत्ता आ सकती है। एक बार क्रान्ति सफल होने पर सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित कर देना चाहिए तभी सर्वहारा वर्ग का कल्याण हो सकता है।

इन दो विचारधाराओ के कारण प्रत्येक देश मे श्रमजीवी आन्दोलन दो पृथक् शिविरो में बटा है। किसी-किसी देश मे राष्ट्रीय विचारधारा के राज-नैतिक दलो ने इन दोनो से पृथक् अपने प्रभाव में मजदूर आन्दोलन को जन्म दिया है। इस प्रकार हमे कही-कही मजदूर तीन शिविरो मे विभाजित दिख-लाई पडता है। (१) राष्ट्रीय विचारधारा वाले मजदूर-सघ (२) समाज-वादी विचारधारा वाले मजदूर-सघ और (३) कम्यूनिस्ट विचारधारा वाले मजदूर-पघ।

भारत मे मजदूर सगठन

वास्तव में भारतीय मजदूर सगठन का जन्म प्रथम महायुद्ध के समय

हुआ। यों तो श्री मापुरजी सोहराबजी बंगाली तथा श्री नारायण मेघजी लोखाडे बम्बई में १८८० के पूर्व ही मजदूरों में कार्य करते थे। श्री लोखाडे ने भारत में सर्वप्रथम संघ 'कामगार हितवर्धक सभा' की स्थापना १८८२ में की और प्रथम मजदूर पत्र "दीनबन्धु" निकाला। परन्तु वास्तविक मजदूर-आन्दोलन प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ही आरम्भ हुआ। उसका कारण यह था कि तब तक भारत में पर्याप्त संख्या में कारखाने स्थापित हो गए थे। युद्ध के फलस्वरूप महगाई बहुत अधिक हो गई थी और एक ओर मिल-मालिकों की तिजोरियों में सोना बरस रहा था और दूसरी ओर मजदूर की आर्थिक स्थिति दयनीय हो गई। इस कारण मजदूर क्षुब्ध हो गया। फिर लाखों की संख्या में जो भारतीय सेना में भर्ती हुए थे और जब वे सेनाएं तोड़ दी गईं तो वे लोग उद्योग-धंधों में मजदूरों की भांति कार्य करने लगे। यह मजदूर योरोप में रह चुके थे अतएव वे वहां के मजदूरों के सम्पर्क में आये और उन्होंने भारत में मजदूरों की दयनीय स्थिति की वहां के मजदूरों की सम्पन्न अवस्था से तुलना की। अतएव उनके विचारों में एक क्रान्ति हो गई। वे उन विचारों को अपने साथ कारखानों में भी लाये और भारतीय मजदूरों में भी अपनी दयनीय स्थिति से असन्तोष उत्पन्न हुआ। इधर बोलशेविक क्रान्ति हुई और सोवियत रूस में सर्वहारा वर्ग अधिनायक बन गया। इसका संसार के मजदूरों पर बहुत अधिक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा और भारत का मजदूर भी उनके प्रभाव से अछूता नहीं रहा। उसी समय राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम आरम्भ हुआ और उसने भी मजदूर अनुप्राणित हुए। कतिपय राष्ट्रीय नेताओं ने इस समय मजदूर समस्याओं में रुचि दिखाना आरंभ की, अतएव मजदूरों को योग्य नेतृत्व प्राप्त हो गया। इनमें स्वर्गीय लाला लाजपतराय मुख्य थे। इनके अतिरिक्त कम्यूनिस्ट पार्टी का भी भारत में जन्म हुआ और उन्होंने मुख्यतः मजदूरों में ही काम करना आरम्भ किया। इन्हीं सब कारणों से भारत में १९१९-२० में मजदूरों में अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न हुई और लगभग प्रत्येक धन्धे में मजदूर-संघ स्थापित हो गए और

मजदूरो ने प्रथम बार पूजीपतियो को चुनौती दी। १९२० मे ही भारत में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काग्रेस की स्थापना हुई। परन्तु आरम्भ से ही मजदूर आन्दोलन में नरम और गरम दल मे घोर मतभेद था। इसका परिणाम यह हुआ कि १९२९ मे मजदूर आन्दोलन में फूट पड गई। कम्यूनिस्टो के प्रभाव मे जो मजदूर-सघ थे वे ट्रेड-यूनियन काग्रेस मे रहे और नरमदल वालो ने एक पृथक् अखिल भारतीय सगठन स्थापित किया। बहुत कुछ प्रयत्नो के फलस्वरूप १९३८ मे फिर मजदूर आन्दोलन में एकता स्थापित हुई और सब मजदूर-सघ ट्रेड यूनियन काग्रेस के साथ सम्बद्ध हो गए। परन्तु जब द्वितीय महायुद्ध हुआ और जैसे ही जरमनी ने रूस पर आक्रमण किया कम्यूनिस्टो ने इस युद्ध को जनवादी युद्ध घोषित कर दिया तथा उसकी सफलता के लिए मजदूरो से कहना आरभ किया कि वे अधिक घटे काम करके भी खूब उत्पादन करें और अपनी मागो को न रखे। काग्रेस उस समय ब्रिटिश साम्राज्यवाद से सघर्ष कर रही थी। राष्ट्रपिता के आवाहन पर 'भारत छोडो' सग्राम छिडा हुआ था अतएव काग्रेस के अन्दर समाजवादियो के नेतृत्व में जो मजदूर सगठन थे वे फिर ट्रेड यूनियन काग्रेस से पृथक् हो गए। भारत के स्वतत्र हो जाने पर समाजवादी काग्रेस से पृथक् हो गए। अतएव आज देश मे मजदूर आन्दोलन तीन शिविरो मे बटा हुआ है। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काग्रेस (आई यन टी यू सी) काग्रेस के प्रभाव मे है, 'ट्रेड यूनियन काग्रेस' कम्यूनिस्टो के प्रभाव में है और "हिन्द मजदूर पचायत" समाजवादी प्रजापार्टी के प्रभाव मे है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी सघ

प्रथम महायुद्ध के उपरान्त १९१९ मे वार्साई सधि के अनुसार जेनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी सघ की स्थापना हुई। आज यह सघ सयुक्त राष्ट्र सघ की अधीनता मे ससार भर के मजदूरो के लिए सुख-सुविधा की व्यवस्था करने का प्रयत्न कर रहा है। यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी सम्मेलनो का आयोजन करता है। इन सम्मेलनो में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र से तीन प्रकार

के प्रतिनिधि आते हैं। मजदूरों के प्रतिनिधि, पूंजीपतियों के प्रतिनिधि और सदस्य राष्ट्र की सरकार के प्रतिनिधि। इन सम्मेलनों में मजदूरों के सम्बन्ध में जो निर्णय लिये जाते हैं उनको सदस्य राष्ट्र बहुत करके कार्यान्वित करते हैं। इस संगठन से प्रत्येक देश के औद्योगिक श्रमजीवी आन्दोलन को बल मिला है। भारत भी उसका एक सदस्य है।

अध्याय दसवां

साम्राज्यवाद

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप बहुत-सी नई वस्तुओ की माग बढ गई। कारखानो मे बहुत बडी राशि मे कच्चे माल की आवश्यकता होने लगी और कारखानो मे अनन्त राशि में बनने वाले तैयार माल के लिए बाजार की आवश्यकता अनुभव हुई। अतएव व्यापार का स्वरूप ही बदल गया। परन्तु इस प्रकार का व्यापार तभी सम्भव था कि जब यातायात तथा गमनागमन के स्वरूप में परिवर्तन हो। जब यातायात के साधनो मे क्रान्ति हुई और रेल तथा स्टीमर का आविष्कार हुआ तो उसके परिणामस्वरूप व्यापार में क्रान्ति हो गई। जिन वस्तुओ का पहले व्यापार नही होता था उनका व्यापार होने लगा। जिन देशो में औद्योगिक क्रान्ति पहले हुई उनमें बडे-बडे औद्योगिक केन्द्र स्थापित हो गये जहा बहुत बडी सख्या मे मजदूर जमा हो गए। अस्तु, औद्योगिक राष्ट्रो को तीन वस्तुओ की अनिवार्य आवश्यकता होने लगी। नगरो मे बढती हुई जनसख्या के लिए खाद्य पदार्थ, कारखानो के लिए कच्चा माल, तथा तैयार माल की खपत के लिए विस्तृत बाजार। यह हम पहले ही कह आये है कि औद्योगिक और व्यापारिक क्रान्ति सर्वप्रथम इग्लैण्ड मे हुई, उसके बाद क्रमश अन्य योरोपीय देशो ने औद्योगिक तथा व्यापारिक क्रान्ति का अनुभव किया। यह सभी देश छोटे देश थे। न तो उनके पास इतनी भूमि थी कि वे अपनी बढती हुई औद्योगिक जनसख्या के लिए यथेष्ट खाद्य पदार्थ उत्पन्न कर सकते और न वे कारखानो के लिए यथेष्ट कच्चा माल ही उत्पन्न करने की क्षमता रखते थे और न उनके देश में वह माल जो उनके कारखानो में तैयार किया जाता था खपाया जा सकता था। मशीनो तथा भाप के आविष्कार के उपरान्त भी औद्योगिक क्रान्ति का कोई अर्थ नही होता और वह कभी सफल नही होती यदि इन तीन समस्याओ का हल नही निकाला जा

सकता । इन तीनो समस्याओ का हल तभी निकल सकता था कि जब वह देश अपने उपनिवेश स्थापित करे अथवा औद्योगिक दृष्टि से पिछडे परन्तु प्राकृतिक देन की दृष्टि से धनी देशो पर अपना प्रभुत्व स्थापित करे। कालातर में एक समस्या इन औद्योगिक राष्ट्रो के सामने और भी खडी हो गई थी। उनकी जनसख्या तेजी से बढ रही थी अतएव यदि उनके लिए बाहर कोई स्थान नही होता तो उनके सामने बेकारी की समस्या भीषण रूप से उठ खडी होती । अतएव प्रत्येक उन्नतिशील औद्योगिक राष्ट्र के लिए अपनी जनसंख्या के लिए खाद्य पदार्थ, कारखानो के लिए कच्चा माल, तैयार माल की खपत के लिए विस्तृत बाजार और बेकारो के लिए नया देश चाहिए था। यह तभी सम्भव था जब वह देश अपने नये उपनिवेश स्थापित करे अथवा निर्बल औद्योगिक दृष्टि से पिछडे परन्तु प्राकृतिक दृष्टि से धनी देशो पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करे । यही कारण था कि योरोप के तत्कालीन राष्ट्रो मे उपनिवेशों के लिए भीषण प्रतिस्पर्धा उठ खडी हुई। प्रत्येक राष्ट्र नये देशो पर तथा निर्बल धनी राष्ट्रो पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए एक-दूसरे से सघर्ष करने लगे । यही से साम्राज्यवाद का उदय हुआ । इस प्रकार आधुनिक साम्राज्यवाद का जन्म जहा औद्योगिक तथा व्यापारिक क्रान्ति का कारण था वहा उसका परिणाम भी था ।

यह हम पहले ही लिख चुके है कि सत्रहवी शताब्दी मे (१६०० से १७५०) तक भारत के लाभदायक व्यापार मे हिस्सा लेने के लिए तत्कालीन उन्नत योरोपीय राष्ट्रो मे भीषण प्रतिस्पर्धा उठ खडी हुई थी। तुर्को से धर्म-युद्धो के कारण भारत और योरोप का स्थल मार्ग अवरुद्ध हो गया था और भारत से व्यापार बन्द हो गया था। अस्तु, योरोपीय देशो के साहसी नाविको ने भारत के लिए समुद्री मार्ग खोजते-खोजते नये महाद्वीपो को ढूढ निकाला और विदेशी व्यापार के लिए कम्पनिया स्थापित की । उस समय विदेशी व्यापार बहुत बढा और बाजारो का कल्पनातीत विस्तार हुआ क्योकि ब्रिटेन के पास एक बहुत विशाल साम्राज्य था। अस्तु, उसको बहुत विस्तृत बाजार मिला। उसे बाजार के लिए अधिक माल चाहिए था, अस्तु ब्रिटेन मे उत्पादन

की प्रणाली में परिवर्तन हुआ और उत्पादन के बढ़ाने के लिए नये आविष्कारो की आवश्यकता हुई। यही कारण था कि ब्रिटेन मे सर्वप्रथम औद्योगिक क्रान्ति हुई। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति और व्यापारिक क्रान्ति होने के उपरान्त उपनिवेश और अधीन राज्य औद्योगिक क्रान्ति को सफल बनाने के लिए आवश्यक हो गए। किसी भी उन्नत देश के औद्योगिक विकास तथा आर्थिक समृद्धि के लिए एक विस्तृत साम्राज्य की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा। अस्तु यह कहना ठीक ही है कि जहा साम्राज्य औद्योगिक क्रान्ति का जनक था वहा उसका परिणाम भी था। यह कहना अधिक सही होगा कि औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ करने मे साम्राज्य का हाथ रहा परन्तु औद्योगिक क्रान्ति को सफल बनाने के लिए साम्राज्य की नितान्त अनिवार्य आवश्यकता अनुभव होने लगी।

साम्राज्य की देश की समृद्धि के लिए तत्कालीन शासक कितनी अनिवार्य आवश्यकता मानते थे यह इसी से सिद्ध है कि तत्कालीन प्रधान मन्त्रियो ने अपने देश के प्रतिनिधियो के सामने साम्राज्यवादी नीति का समर्थन करते हुए कहा था कि यदि हम चाहते हैं कि हमारा देश समृद्धिशाली और बलवान् हो तो हमें साम्राज्य का निर्माण करना होगा। ब्रिटेन के प्रधान मत्री चैम्बरलेन ने एक बार साम्राज्यवाद का समर्थन करते हुए पार्लियामेट मे कहा था "साम्राज्य ही व्यापार है"। एक दूसरे अवसर पर ब्रिटेन के व्यापारियो के एक प्रतिनिधि मडल से बात करते हुए चैम्बरलेन ने कहा था, "जिन सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओ का हम आज सामना कर रहे है, उनका एकमात्र हल मैं साम्राज्य विस्तार मे ही देखता हू। उसके अतिरिक्त अपनी समस्याओ को हल करने का मुझे कोई दूसरा उपाय नही दिखलाई देता। जब कामधधा बहुत अधिक मात्रा मे होता है तभी जनता समृद्धिशाली बनती है और काम-धधे को पनपाने के लिए बाजार चाहिए। यह तभी सम्भव है कि जब हम अपने साम्राज्य का विस्तार करे।"

फ्रास में जुलेस फैरी ने भी लगभग इन्ही शब्दो मे फ्रास की साम्राज्यवादी नीति का फ्रैच पार्लियामेंट मे उत्साह के साथ समर्थन किया था। १८८५

मे फ्रैंच पार्लियामेंट मे भाषण देते हुए उसने कहा कि "योरोप के देश एक दूसरे के लिए अपने द्वार बद करते जा रहे हैं। अतएव फ्रास की जनसख्या की समृद्धि के लिए यह नितात आवश्यक है कि हमारे उद्योग-धधो के लिए, हमारे निर्यात के लिए और हमारी पूजी के लिए कोई क्षेत्र प्राप्त हो और यह तभी हो सकता है कि हम अपने साम्राज्य का विस्तार करे।" योरोपीय राजनीतिज्ञो के ऊपर लिखे उद्‌गार इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि योरोपीय राष्ट्र साम्राज्य को अपनी समृद्धि का मुख्य कारण मानते थे और यही कारण था कि उन्होने अपने-अपने लिए विस्तृत साम्राज्य का निर्माण करने के लिए परस्पर सघर्ष करना आरम्भ कर दिया।

उन्नीसवी शताब्दी मे साम्राज्य विस्तार के तीन मुख्य प्रेरक कारण थे (१) औद्योगिक तैयार माल के लिए बाजार (२) देश की पूजी को पिछडे हुए परन्तु प्राकृतिक देन के धनी देशो में लगाने की सुविधा, (३) बढती हुई जनसख्या के लिए नये प्रदेश। इन्ही तीन कारणो से प्रत्येक औद्योगिक सबल राष्ट्र को विस्तृत साम्राज्य की आवश्यकता अनुभव होने लगी और साम्राज्य-वाद का उदय हुआ।

साम्राज्यवाद के उदय की प्रेरक शक्ति आर्थिक लाभ थी परन्तु साम्राज्य स्थापन के उपरान्त पूजीपति व्यवसायी, नवीन देशो को ढूढ निकालने वाले साहसी नाविक, तथा धर्माचार्य पादरी थे। इन्ही की सहायता से योरोपीय राष्ट्रो ने अपने लिए विस्तृत साम्राज्यो की स्थापना की।

पूजीपति व्यवसायी साम्राज्यवाद का एक महत्वपूर्ण दूत था। भारत, लका तथा बर्मा को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत लाने में ईस्ट इडिया कम्पनी ने क्या-क्या षड्‌यंत्र नही किए यह प्रत्येक भारतवासी जानता है। भारत मे जहा केन्द्रीय सरकार की शक्ति समाप्त हो गई थी और छोटे-छोटे राजे और नवाब स्वतंत्र शासक बन गए थे वहा ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने एक को दूसरे से लडाकर क्रमश अपना बल बढाया और अन्त में सम्पूर्ण देश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। जहा शासन इतना निर्बल नही था वहा यदि देश में कोई अशान्ति होती तो वे विद्रोहियो की सहायता करते। इस प्रकार

वहा के शासन को निर्बल कर देते। किसी-किसी देश में यदि शासक विलासी और दुश्चरित्र होता और इस कारण राज्य का धन पानी की तरह बहाता और यदि उसे आर्थिक सकट उत्पन्न हो जाता तो यह धन-कुबेर आगे बढकर उसे ऋण देते और जब उस पर इतना ऋण हो जाता कि सरलता से वह नही चुका सकता तब यह साम्राज्यवादी दूत उस पर दबाव डालते। किसी प्रदेश की मालगुजारी वसूल करने का, तटीय कर उगाहने का अधिकार प्राप्त कर लेते और यदि शासक इसके लिए तैयार नही होता तो इन व्यवसायी पूजीपतियो के देश की सरकार अपनी सेना भेजकर उस शासक को विवश कर देती कि वह उसकी अधीनता स्वीकार करे। ईस्ट इडिया कम्पनी का बगाल की मालगुजारी वसूल करने का अधिकार तथा चीन के निर्बल मंचू सम्राटो का योरोपीय राष्ट्रो को कतिपय बदरगाहो पर आयात कर तथा निर्यात कर वसूल करने का अधिकार देना इसके उदाहरण है। मिश्र में जो ब्रिटेन का साम्राज्य स्थापित हुआ वह केवल अग्रेज पूजीपतियो की देन थी। मिस्र का तत्कालीन शासक इस्माइल पाशा, विलासिता में डूबा हुआ रगरेलियो में मस्त रहता। वह धन पानी की तरह बहाने लगा, खजाना खाली हो गया, कर बढाये गये, देश निर्धन हो गया, फिर भी इस्माइल की तृप्ति नही हुई। चतुर विदेशी पूजीपतियो ने उसको ऋण देना आरम्भ कर दिया। इन साम्राज्यवादी देशो के अग्रदूत पूजीपतियो से ऋण लेने का परिणाम यह हुआ कि मिस्र को अपनी स्वाधीनता से हाथ धोना पडा। इगलैण्ड के चतुर प्रधानमत्री डिसरेली ने पाशा के अर्थसकट से लाभ उठाकर चालीस लाख पौड के उसके स्वेज नहर के हिस्से खरीद लिए। किन्तु मिस्र सरकार की आर्थिक दशा बिगडती ही गई। साम्राज्यवाद के अग्रदूत उसे अधिकाधिक ऋण देते गए और जैसे-जैसे इस्माइल पर ऋण का बोझा बढता गया वैसे ही वैसे महाजनो का प्रभाव बढता गया। अन्त में अग्रेजो ने दबाकर मिस्र के शासक को राज्य के अर्थ-विभाग को अग्रेजो के अधिकार मे देने पर विवश कर दिया। अग्रेज अर्थसचिव नियुक्त हुआ और क्रमश वह शासन के प्रत्येक विभाग में हस्तक्षेप करने लगा। जब इसके विरोधस्वरूप मिस्र मे विद्रोह हुआ तो अग्रेजी सेनाओ न मिस्र का

घोर दमन किया और मिस्र पर अपना सरक्षण स्थापित कर दिया। बरमा, लंका, मलाया, इडोचीन और चीन में भी यही इतिहास दोहराया गया। चीन की स्वतत्रता का दीपक बिलकुल बुझने से बच गया क्योकि उस पर ब्रिटेन, फ्रास, जरमनी, रूस सभी की गिद्ध दृष्टि लगी हुई थी और महा राष्ट्र चीन के बटवारे पर इन साम्राज्यवादी राष्ट्रो में कोई भी समझौता नही हो पाता था। ईरान मे साम्राज्यवादी प्रभाव बढने का कारण भी ईरान के शाह को अग्रेज पूजीपतियो के द्वारा ऋण दिया जाना ही था। सक्षेप में हम यह कह सकते है कि एशियाई राष्ट्रो पर योरोपीय साम्राज्यवादी राष्ट्रो का प्रभुत्व स्थापित करने मे यह पूजीपति व्यवसायी मुख्य सहायक थे। किसी देश मे जब यह व्यापारी देखले कि राज्य सरकार निर्बल है तो उस देश के नियमो की अवहेलना करने लगते और यदि वहा की सरकार उनको दड देना चाहती तो इसी बहाने उनके देश की सरकार उस निर्बल राष्ट्र पर आक्रमण कर देती और उसपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर देती।

साम्राज्यवाद के दूसरे अग्रदूत वे साहसी नाविक पर्यटक थे जिन्होने नये-नये देशो को ढूढ निकाला और वहा अपने देश का आधिपत्य स्थापित किया। आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, उत्तरी अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका तथा अफ्रीका के उपनिवेश इन्ही साहसी पर्यटको के द्वारा उनके देशो के अधिकार में गए। अफ्रीका में योरोप के साम्राज्यवादी राष्ट्रो का आधिपत्य स्थापित करने में स्टैनले, लुगाड, मार्चंड और पीटर का बहुत बडा हाथ था। स्टैनले ने जब कागो बेसिन को ढूढ निकाला तो बैलजियम के चतुर राजा ल्योपोल्ड ने वहा कागो-फ्री-स्टेट की स्थापना की और उसे बैलजियम साम्राज्य के अन्तर्गत ले लिया। इसी प्रकार अफ्रीका के योरोपीय राष्ट्रो के शिकार होने के मुख्य कारण लुगार्ड, मार्चंड तथा पीटर थे जिन्होने अफ्रीका के भिन्न-भिन्न भागो को ढूढ निकाला और उसके परिणामस्वरूप अफ्रीका का साम्राज्यवादी राष्ट्रो के बीच बटवारा हो गया।

साम्राज्यवाद के तीसरे दूत धर्माचार्य ईसाई पादरी थे। वे इन नवीन और पिछडे देशो में जाते और वहा के रहने वालो के धार्मिक विश्वासो की

हसी उडाते, उनके पूज्य धर्माचार्यों के लिए अपशब्द कहते, और उनके धर्मस्थानो मे अभद्र व्यवहार करते और यदि भावनावश वहा के निवासी थोडा भी उपद्रव करते तो फिर उनके देश की सरकार को हस्तक्षेप करने का बहाना मिल जाता। चीन में यही दुर्घटना हुई। दो जरमन ईसाई धर्म-प्रचारक चीनियो द्वारा उनके धार्मिक स्थानो में अभद्र व्यवहार करने के कारण मार डाले गए। बस फिर क्या था जरमन सरकार ने चीन में सैन्य सचालन किया, निर्बल मचू सम्राट को विवश होकर क्यो-चाऊ बदरगाह के समीपवर्ती अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रदेश से हाथ धोना पडा। जरमनी ने उस प्रदेश पर अधिकार कर लिया। साम्राज्यवाद के रक्तिम इतिहास मे जहा पूजीपति उद्योगपतियो का साम्राज्य विस्तार में बहुत हाथ रहा वहा इन धर्मप्रचारको का भी कुछ कम हाथ नही रहा।

यदि एशिया के कतिपय देश, जैसे चीन तथा ईरान और अरब अर्ध स्वतन्त्र बने रहे तो उसका एक मात्र कारण यह था कि साम्राज्यवादी राष्ट्रो मे उनके बटवारे के सम्बन्ध में कोई समझौता न हो सका और उनकी ईर्षा और परस्पर मतभेद के कारण नाम मात्र को इन देशो की स्वतत्रता बनी रही। परन्तु इन देशो मे भी साम्राज्यवादी राष्ट्र वहा के निर्बल शासको से उनके देश के भिन्न-भिन्न भागो मे व्यापार तथा उद्योग-धधो को स्थापित करने के लिए विशेष अधिकार प्राप्त कर लेते थे। चीन मे तथा अन्य देशो में ब्रिटेन, रूस, जरमनी फ्रास ने आर्थिक विशेष अधिकार तो प्राप्त कर ही लिए थे वहा न्याय सम्बन्धी विशेषाधिकार भी उन्हे प्राप्त थे। कोई योरोमियन किसी जुर्म मे किसी चीनी न्यायालय मे न्याय के लिए उपस्थित नही किया जा सकता था। उनके लिए विशेष न्यायालय होते थे। कहने का तात्पर्य यह कि एशिया तथा अफ्रीका के जिन देशो की सम्पूर्ण स्वतत्रता समाप्त नही हो गई थी वे भी केवल अर्ध स्वतत्र थे और साम्राज्यवादी राष्ट्रो को उनमे विशेषाधिकार प्राप्त थे,वे उनका अनवरत शोषण करते थे।

उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक ब्रिटेन, फ्रास और जर्मनी ने बहुत बडे साम्राज्यो की स्थापना कर ली थी। इटली और रुस भी साम्राज्यवादी राष्ट्र

थे किन्तु वे अपनी निर्बलता के कारण बहुत बडे साम्राज्य स्थापित नही कर पाये। बैलजियम, पोर्तुगाल, तथा हालैंड भी यद्यपि बहुत छोटे राष्ट्र थे किन्तु उन्होने अपने से बहुत बडे साम्राज्य स्थापित कर लिए थे। वास्तव मे उन्नीसवी शताब्दी का उत्तरार्ध साम्राज्यो के विस्तार का युग था। योरप के राष्ट्रो ने अन्य महाद्वीपो के निर्बल और पिछडे राष्ट्रो पर अपना अधिकार कर लिया।

योरोपीय साम्राज्यवादी राष्ट्रो ने इन देशो पर जो अपना अधिकार स्थापित किया था वह केवल उनका आर्थिक शोषण करने के लिए और अपने उद्योगपतियो के लिए लाभ कमाने के लिए किया था और देश की अधिक जनसख्या को बसाने के लिए किया था।

साम्राज्यवादी राष्ट्र छोटे थे, उनके साधन सीमित थे और उनकी जनसंख्या बढती जा रही थी। अतएव उनके लिए आवश्यक था कि वे आधुनिक ढग के उद्योग-धधे स्थापित करके बढती हुई जनसख्या को काम दे और उनके जीवन-स्तर को ऊचा उठावे। परन्तु किसी भी राष्ट्र का औद्योगीकरण तभी हो सकता था कि जब उन्हें कच्चा माल प्राप्त हो और तैयार माल के लिये बाजार उपलब्ध हो। कारण कि साम्राज्यवादी राष्ट्रो के पास भूमि इतनी कम थी कि वे स्वय कच्चा माल उत्पन्न नही कर सकते थे। अतएव इन साम्रज्यवादी राष्ट्रो ने अपने उपनिवेशो तथा अधीन राष्ट्रो के प्रति ऐसी नीति अपनाई कि वे उनके लिये बडे खेतिहर देश बन जावे। यह उपनिवेश तथा अधीन देश अपने प्रभु-देश के लिये कच्चा माल अपने खेतो मे, वनो मे, तथा खानो से उत्पन्न करते थे और उस कच्चे माल को भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओ मे परिणत करके प्रभु-देश अपने अधीन साम्राज्य के बाजार मे भेज देता था। एक प्रकार से अधीन देश या उपनिवेश अपने प्रभु-देश के खेतिहर थे। प्रत्येक साम्राज्यवादी राष्ट्र के नागरिक बडी सख्या में अपने अधीन उपनिवेशो में जाकर बसने लगे और वहा जाकर बागो के मालिक, खानो के स्वामी बने तथा अन्य धंधे करने लगे। उदाहरण के लिये आस्ट्रेलिया में अंग्रेज सोने की खानो मे काम करते, बडे-बडे भेडो के

झुड रखते, मलाया में रबर के बाग लगाते थे।

आरम्भ में साम्राज्यवादी राष्ट्रो की यही नीति थी। वे अधीन देशो तथा उपनिवेशो में उद्योग-धधो की पनपने देना नही चाहते थे। कालान्तर में जैसे-जैसे देश मे औद्योगिक उन्नति चरम सीमा पर पहुचती गई वैसे-वैसे वहा के पूजीपतियो को अपनी बढती हुई पूजी को अपने देश में लगाने की सुविधा नही रही। अब वे अपनी पूजी को विदेशो मे लगाने का प्रयत्न करने लगे।

इन धन-कुबेरो की पूजी आश्चर्यजनक गति से बढ रही थी। प्रतिवर्ष जो कल्पनातीत ऊचा लाभ इन धन-कुबेरो को होता था उसको नये धधो में लगाने की आवश्यकता थी। देश में औद्योगिक उन्नति चरम सीमा पर पहुच जाने के कारण, तथा सभी धधो का पूर्ण विकास हो जाने के कारण अपने देश में उस पूजी को लगाने का क्षेत्र नही रह गया था। अतएव पूजी का निर्यात होना आवश्यक था। अतएव इन राष्ट्रो के पूजीपतियो ने अपनी पूजी को अपने उपनिवेशो, अधीन राष्ट्रो में लगाना आरम्भ किया। उनका यह प्रयास केवल अपने अधीन देशो तथा उपनिवेशो तक ही सीमित नही रहा वरन् वे स्वतत्र परन्तु औद्योगिक दृष्टि से पिछडे हुए देशो मे भी अपनी पूजी लगाने लगे। परन्तु वे अपनी पूजी को केवल उन्ही स्वतत्र देशो मे लगाना चाहते थे जिनपर उनके देश की सरकार का कुछ प्रभाव हो। यही कारण है कि वे अपने देश की सरकार पर प्रभाव डालते थे कि वे उन देशो पर अपना राजनीतिक प्रभाव स्थापित करें।

ईरान, ईराक में पिछले पचास वर्षों से जो साम्राज्यवादी राष्ट्रो की कूटनीति काम कर रही है और जो वहा के देशो की सरकार कभी स्थिर नही रह पाती, आये दिन विप्लव होते रहते है तथा राजनीतिक अशाति बनी रहती है उसका मूल कारण यह है कि वहा की मरुभूमि मे नीचे खनिज-तेल का अटूट भडार छिपा हुआ है। यह पूजीपति इन देशो में अपना धधा स्थापित करके अपने धन के प्रभाव से वहा की राजनीति पर छा जाते है। पिछडे हुए देशो के स्वार्थी राजनीतिज्ञो को खरीदकर वे वहा के शासन में

हस्तक्षेप करते रहते हैं और अपने देश की सरकार को भी उस देश के प्रति साम्राज्यवादी नीति बरतने पर विवश कर देते हैं।

प्रकृति-देन के धनी किन्तु निर्बल पिछडे राष्ट्रो की राजनीति को यह पूजीपति अपने पैसे के बल पर चलाते है। कभी-कभी भिन्न-भिन्न देशो के पूजीपतियो के स्वार्थ इन देशो में टकराते है और उनमें सघर्ष होता है। उसका परिणाम यह होता है कि इन पूजीपतियो के देशो की सरकारे आपस में टकराती हैं और ससार को युद्ध की विभीषिका का सामना करना पडता है।

१९१४-१९ और १९३९-४५ में जो दो विश्वव्यापी महायुद्ध हुए और जो आये दिन भिन्न-भिन्न देशो में राजनीतिक अशांति उत्पन्न होती रहती है उसका मुख्य कारण भिन्न-भिन्न साम्राज्यवादी राष्ट्रो के आर्थिक स्वार्थों की टक्कर ही है।

बीसवी शताब्दी मे अधीन और विजित राष्ट्रो में राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ, उन्होने अपनी दासता का जुआ उतार फेकने के लिए साम्राज्यवादी राष्ट्रो को चुनौती देना आरम्भ कर दिया, और १९५० तक बहुत से अधीन राष्ट्रो ने अपने को दासता के चुगल से मुक्त कर लिया। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद यो आज समाप्त होते दिखलाई देते हैं। पिछले कुछ वर्षो मे मिस्र, अरब के देश, ईरान, अफगानिस्तान, भारत, चीन, बरमा, लका, हिन्द-चीन स्वतंत्र हो गए। शेष पराधीन राष्ट्र भी साम्राज्यवाद के जुए को अपने कधे पर से उतार कर फेंक देने के लिए व्यग्र हैं और ऐसा दिखलाई देता है कि साम्राज्यवाद का अन्त समीप है।

इसमें तनिक भी सदेह नही कि भविष्य में आर्थिक तथा राजनीतिक साम्राज्यवाद अधिक दिनो टिक नही सकेगा। परन्तु फिर भी ससार के प्रबल राष्ट्र संसार पर अपना प्रभाव जमाये रखना चाहते हैं। एक ओर सोवियत रूस अपने नेतृत्व में कतिपय देशो का सगठन कर रहा है; उन कठपुतली देशों की वैदेशिक नीति और कुछ सीमा तक अर्थनीति सोवियत रूस के संकेत पर चलती हैं। दूसरी ओर सयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन के नेतृत्व में एक दूसरा शिविर खड़ा हुआ है। प्रत्येक क्षण इन दो शिविरो

मे संघर्ष हो जाने की संभावना बनी रहती है। इस शीत युद्ध से आज समस्त विश्व त्रस्त और भयभीत है। ऐसा दिखता है कि साम्राज्यवाद का अन्त नही हो रहा है बल्कि साम्राज्यवाद का स्वरूप बदल रहा है। जब तक किसी भी रूप मे साम्राज्यवाद जीवित रहेगा तब तक विश्व को महायुद्धो की विभीषिका मे से होकर निकलना ही पड़ेगा। यही कारण है कि भारत किसी भी शिविर में जाना नही चाहता। वह जानता है कि विश्व शांति के लिए दोनो शिविर खतरनाक हैं।

अध्याय ग्यारहवां

समाजवाद और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था

औद्योगिक क्रांति के पूर्व समाज मे धन की असमानता अधिक नही थी। यद्यपि उस समय भी समाज मे थोड़े से धनी व्यक्ति होते थे, परन्तु उनको अपने धन का प्रदर्शन करने का अवसर कम मिलता था और उपभोग के पदार्थ इतने कम थे कि वह धनी व्यक्ति भी अन्य सर्व साधारण की ही भांति रहने पर विवश होता था। इसके अतिरिक्त उस समय ग्राम तथा नगर सगठन इतना प्रबल होता था कि धनी हो अथवा निर्धन, सभी को सामूहिक जीवन व्यतीत करना पड़ता था और समाज की परम्पराओ तथा मर्यादाओ को प्रत्येक व्यक्ति को स्वीकार करना पड़ता था। अतएव औद्योगिक क्रांति के पूर्व धनी व्यक्ति के न तो रहन-सहन मे ही सर्वसाधारण की अपेक्षा कोई विशेष अन्तर होता था और न उसका समाज पर कोई विशेष प्रभाव ही होता था। कहने का तात्पर्य यह कि धनोत्पत्ति का कार्य जितना ही सरल होता है, धन की असमानता समाज मे उतनी ही कम होती है।

उदाहरण के लिए जब मनुष्य समाज शिकारी अथवा आखेट का जीवन व्यतीत करता था, और पशु-पक्षियो तथा मछलियो को मार कर अपनी उदर-पूर्ति करता था, उस समय समाजका सगठन समानताके आधार पर आधारित था। उस समय समाज में कोई भिन्न-भिन्न वर्ग उत्पन्न नही हुए थे। सब मनुष्य एक ही समान रहते थे और उनके आर्थिक हित समान थे। यहा तक कि उस समय स्त्री-पुरुषो में भी धनोत्पत्ति की दृष्टि से कोई भेद नही किया जाता था। पुरुषो के साथ-साथ स्त्रिया भी आखेट को जाया करती थी। उस दिन से आज तक धनोत्पत्ति की प्रणाली में जैसे-जैसे उन्नति होती गई

वैसे-ही-वैसे समाज में आर्थिक असमानता उत्पन्न होती गई और व्यक्तिगत तथा वर्ग-भेद बढते गए। जैसे-जैसे धनोत्पत्ति मे विशेषीकरण और श्रम विभाजन की प्रवृत्ति बढती गई और सामाजिक सेवा कार्य मे विशेषीकरण और श्रम विभाजन बढता गया, वैसे-ही-वैसे समाज में भिन्न-भिन्न आर्थिक तथा सामाजिक वर्ग उत्पन्न होते गए। परन्तु फिर भी औद्योगिक क्राति के पूर्व समाज मे आर्थिक असमानता अधिक नही थी।

औद्योगिक क्राति के फलस्वरूप समाज के आर्थिक ढाचे में क्रातिकारी परिवर्तन हो गया। धनोत्पत्ति मे ऐसे क्रातिकारी परिवर्तन का समाज के आर्थिक सगठन पर गहरा प्रभाव पडना अनिवार्य था। औद्योगिक क्राति के फलस्वरूप बडी मात्रा का उत्पादन आरम्भ हुआ और भीमकाय पुतलीघर खडे हुए, व्यापार के तरीके मे भी क्राति हुई और एक प्रबल पूजीपति वर्ग का उदय हुआ। इस नवीन परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि समाज में कतिपय व्यक्तियो के पास कल्पनातीत धन एकत्रित हो गया किन्तु समाज के अधिकाश व्यक्ति निर्धन हो गए। औद्योगिक क्राति ने जहा बहुत थोडे से व्यक्तियो को अत्यत समृद्धिशाली धन-कुबेर बना दिया, वहा असख्यो को अत्यत निर्धन बना दिया। औद्योगिक क्राति के फलस्वरूप राष्ट्रीय धनोत्पत्ति में वृद्धि हुई परन्तु राष्ट्रीय हित सवर्द्धन कम हो गया। इसके द्वारा समाज की भौतिक उन्नति हुई परन्तु उसने मनुष्य की सामाजिक प्रगति को रोक दिया। यह औद्योगिक क्राति की ही देन थी कि समाज में प्रथम बार एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हुआ, जिसके पास न तो भूमि थी और न कोई स्वतत्र कारीगरी के औजार इत्यादि थे। कहने का तात्पर्य यह कि औद्योगिक क्राति के पूर्व प्रत्येक व्यक्ति के पास उत्पत्ति के साधन होते थे और वह स्वतत्र उत्पादक होता था। किसान के पास भूमि, पशु तथा औजार होते थे, कारीगर के पास अपनी कुटिया होती थी और औजार होते थे। किन्तु औद्योगिक क्राति के फलस्वरूप एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया, जिसके पास अपने शरीर के श्रम के अतिरिक्त और कोई भी उत्पत्ति का साधन नही रह गया, जो केवल अपने श्रम को ही दूसरो को बेचकर अपनी उदर-पूर्ति करता था। साराश यह कि औद्योगिक

क्राति के उपरान्त ही 'सर्वहारा' वर्ग का उदय हुआ। यदि गभीरतापूर्वक सोचा जावे तो औद्योगिक क्राति की यह देन 'सर्वहारा वर्ग' अत्यत दुर्भाग्यपूर्ण देन थी जिसने समाज में एक निर्धन, परावलम्बी, तथा आश्रयहीन वर्ग को उत्पन्न कर दिया। जहा एक ओर धनोत्पत्ति करने की क्षमता बहुत बढ गई, समाज मे धन का उत्पादन बहुत अधिक होने लगा, और इने-गिने व्यक्तियो का वैभव और समृद्धि कुबेर को भी लज्जित करने लगी, वहा असख्य व्यक्ति 'सर्वहारा' वर्ग की श्रेणी में पहुँच गए। औद्योगिक क्राति के फलस्वरूप धनोत्पत्ति तथा धन-वितरण की जो नई समस्याये उत्पन्न हुईं, उनके फलस्वरूप नए विचारो का जन्म हुआ और दो परस्पर विरोधी विचारधारायें उत्पन्न हुई। एक विचारधारा ने, 'अर्थशास्त्र' को जन्म दिया और दूसरी विचारधारा ने 'समाजवाद' को जन्म दिया। अर्थशास्त्री तत्कालीन अर्थ-प्रणाली अर्थात् पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था के समर्थक थे, और समाजवादी उसके कठोर आलोचक थे। अर्थशास्त्री आर्थिक स्वतत्रता और व्यक्तिगत उत्पादन के समर्थक थे और समाजवादी राज्य के हस्तक्षेप और सामूहिक उत्पादन के पृष्ठ-पोषक थे।

अर्थशास्त्रियो का मत था कि राज्य राष्ट्र के हितो का संवर्द्धन तभी कर सकता है कि जब वह पूजी को स्वतंत्रतापूर्वक लाभदायक धंधो की ओर प्रवाहित होने दे, वस्तुओ की माग तथा पूर्ति से मूल्य निर्धारित होने दे, तथा परिश्रम, बुद्धि, साहस तथा योग्यता का उचित पारिश्रमिक मिलने दे। साराश यह कि राज्य को आर्थिक जीवन में कोई हस्तक्षेप नही करना चाहिए। समाज की आर्थिक उन्नति का आधार शक्तात जीवन है। जो योग्य, साहसी, कुशल और परिश्रमी है, वे सफल होगे और जिनमें ये गुण नही है, वे असफल होगे और निर्धन जीवन व्यतीत करने और अपने श्रम को बेचने के लिए विवश होगे। यदि राज्य इसमें कोई हस्तक्षेप करना चाहेगा तो देश की आर्थिक उन्नति अवरुद्ध हो जावेगी। यही कारण था कि अर्थशास्त्रियो ने इस बात पर बल दिया कि लाभ प्राप्त करने, मूल्य निर्धारण करने तथा व्यक्तिगत संपत्ति का स्वामी होने पर कोई प्रतिबन्ध नही होना चाहिए।

जहा अर्थशास्त्रियो ने राज्य को आर्थिक जीवन मे हस्तक्षेप न करने पर बल दिया, वहा समाजवादियो ने धन के व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त करने तथा उत्पादन के साधनो पर राष्ट्र या समाज के अधिकार को स्थापित करने की घोषणा की। सर्वप्रथम फ्रास मे कुछ ऐसे विचारक उत्पन्न हुए, जिन्होने व्यक्तिगत सम्पत्ति की आलोचना की, उनमे सेंट-साइमन, फौरियर, प्राऊढन, तथा लुइस ब्लैंक प्रमुख थे।

सेंट-साइमन ने औद्योगिक क्राति के परिणामस्वरूप होने वाली आर्थिक क्राति के महत्त्व को समझा था। उसने यह स्पष्ट देख लिया था कि इस आर्थिक क्राति के फलस्वरूप समाज का नेतृत्व भूस्वामियो और सैनिक नेताओ से हटकर उद्योगपति और पूजीपतियो के हाथ मे चला जावेगा। उसका कहना था कि जब पूजी कतिपय व्यक्तियो के पास एकत्रित हो जावेगी और वे अपार सपत्ति के स्वामी बन जावेगे तो उस पूजी के उपयोग से वे मजदूरो द्वारा उत्पन्न धन का अधिकाश भाग स्वय ले लेंगे और इस प्रकार मजदूर वर्ग का शोषण होने लगेगा। अतएव सेंट-साइमन ने व्यक्तिगत सपत्ति को समाप्त कर देने पर बल दिया। व्यक्तिगत सपत्ति अथवा पूजी को समाप्त करने की जो पद्धति उसने बतलायी, वह अत्यत सरल थी। उसका कहना था कि मृत व्यक्ति की सपत्ति या पूजी की उत्तराधिकारी एकमात्र सरकार होनी चाहिए। इस प्रकार कुछ समय में ही समस्त पूजी सरकार के पास आ जावेगी। राज्य फिर उस पूजी को उन व्यक्तियो को दे दे, जो उसका उत्पादन-कार्य मे सर्वोत्तम उपयोग कर सकें। इसका परिणाम यह होगा कि धन का उत्पादन बहुत अधिक बढ जावेगा। सेंट-साइमन तथा उसके अनुयायी धन के समान वितरण पर इतना बल नही देते थे, उनका सिद्धात था कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार मिलना चाहिए, अर्थात् जो अधिक योग्य और कार्यकुशल है, उन्हे राष्ट्रीय आय का अधिक भाग मिलेगा। परन्तु साइमन ने धनोत्पत्ति को सामूहिक ढग से करने पर विशेष बल दिया। उसके अनुसार उत्पत्ति के साधनो पर राज्य का अधिकार होना चाहिए तथा धन के उत्पादन का नियत्रण राज्य द्वारा होना चाहिए।

दूसरा समाजवादी विचारक फौरियर था। उसने सेंट-साइमन की भांति केन्द्र मे समाज का नवीन सगठन करने अथवा सुधार करने की प्रणाली को स्वीकार नही किया। उसका कहना था कि छोटी-छोटी समाजवादी बस्तिया या समूह स्थापित किये जावें और क्रमश समाजवादी समाज का निर्माण किया जावे। कहने का तात्पर्य यह है कि फौरियर सपत्ति के बलपूर्वक राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे नही था, वरन् वह स्वेच्छा-सहयोग से समाजवादी समाज की रचना करने के पक्ष मे था। उसकी समाजवादी बस्ती का स्वरूप इस प्रकार था। बस्ती के पास लगभग एक हजार एकड भूमि हो, जिसको उस समूह के सभी व्यक्ति सम्मिलित श्रम से जोते। सभी सदस्य एक बडे होटल में मिलकर रहे। उस सामूहिक फार्म का लाभ इस प्रकार बाटा जावे। बारह भाग मे से ५ भाग श्रम को, चार भाग पूजी को और तीन भाग व्यवस्था और योग्यता को। फौरियर का विचार था कि इस प्रकार की समाजवादी बस्तिया जहा तक सभव हो, स्वावलम्बी हो, परन्तु वे अपने अतिरिक्त उत्पादन का इसी प्रकार की अन्य बस्तियो से विनिमय कर सकती है। फौरियर की कल्पना तो यह कल्पना थी कि जब इस प्रकार की समाजवादी बस्तिया बहुत सख्या में स्थापित हो जावेगी तो राष्ट्रीय सीमायें भी समाप्त हो जावेगी और समस्त योरोप की यह समाजवादी बस्तिया एक विशाल सघ का निर्माण करेंगी जिसकी राजधानी कास्टैनटिनोपिल होगी। यदि देखा जावे तो 'फौरियर' की समाज रचना में व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाप्त करने की बात नही थी, वह चाहता था कि मजदूर को सम्पत्ति का एक भाग प्राप्त हो। इस प्रकार वह स्वामी और मजदूर के भेद को समाज से हटा देना चाहता था। उसकी धारणा थी कि वे इस प्रकार की समाजवादी बस्तियो में मालिक और मजदूर, महाजन और ऋणी, तथा उत्पादक तथा उपभोक्ता मे जो विरोध है वह मिट जावेगा और समाज में शाति स्थापित हो सकेगी। परन्तु सेंट-साइमन तथा फौरियर के प्रयोगो को कोई भी सफलता नही मिली।

प्राउद्न (१८०९-६५) सेंट-साइमन तथा फौरियर के पश्चात् जनता

के समक्ष आया। उसकी पुस्तक "जायदाद या सम्पत्ति क्या है" बहुत प्रसिद्ध हुई। उसने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा, "सम्पत्ति लूट और चोरी है"। वह सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व का इतना विरोधी नही था वरन् वह उसके दुरुपयोग का विरोधी था। उसका कहना था कि जिनके पास धन या जायदाद है वे आलसी है और उसको उन उत्पादको को दे देते है जोकि उसका उपयोग धनोत्पत्ति में करते है, परन्तु पूजी या जायदाद के यह आलसी स्वामी सूद या लगान के रूप मे उन परिश्रमी व्यक्तियो की गाढी कमाई को खा जाते है। वह एक ऐसे समाज की कल्पना करता था कि जिसमे दूसरो के श्रम से लाभ न उठाया जावे। प्रत्येक व्यक्ति को श्रम करके धनोत्पत्ति करने की सुविधा हो और वह अपने श्रम के फल को प्राप्त कर सके। उसका कहना था कि राज्य अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा निकाले और उसको बिना सूद धन का उत्पादन करने वालो को दे दे। जब उत्पादको को बिना सूद पूजी मिल जावेगी तो आज जो पूजी या जायदाद से उसके स्वामी को अर्नजित आय (सूद या लगान) प्राप्त होती है वह समाप्त हो जावेगी और श्रम ही धनोत्पत्ति का एकमात्र स्वामी बन जावेगा। अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा को निकाल कर उत्पादको को पूजी देने मे राज्य का कुछ व्यय नही होगा। कागजी मुद्रा आवश्यकता से अधिक न निकल जावे उसके लिये केवल वास्तविक उत्पादको को ही बिना सूद साख देने की व्यवस्था होनी चाहिये जिससे कि वस्तुओ के उत्पादन के अनुपात मे ही कागजी मुद्रा में वृद्धि हो। अपने जीवन काल में प्राउढन के विचारो का फ्रास में अधिक प्रचार नही हुआ परन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके विचारो को अधिक समर्थन प्राप्त हुआ।

फ्रास के समाजवादी विचारकों मे लुइस ब्लैंक को अपने जीवन काल में यथेष्ट समर्थन प्राप्त हुआ। समाजवाद पर उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक "मजदूरो का सगठन" १८४१ में प्रकाशित हुई। लुइस ब्लैंक का कहना था कि आधुनिक समाज के सारे दोषो का एकमात्र कारण प्रतिस्पर्धा है। अतएव उसका कहना था कि प्रतिस्पर्धा के स्थान पर हमें 'सहयोग' को स्थापित

करना चाहिए। फौरियर की भाति वह समाजवादी ग्राम या बस्तिया स्थापित करने के पक्ष में नही था। वह समाजवादी वर्कशाप स्थापित करने के पक्ष में था जिनके स्वामी स्वय मजदूर होगे और वही उसका प्रबध और सचालन करेंगे। उसकी मान्यता थी कि यदि सरकार कुछ पूजी देकर इस प्रकार की कतिपय समाजवादी वर्कशाप स्थापित कर दे तो उसके परिणामस्वरूप समस्त समाज का रूप ही बदल जावेगा। उसके विचारानुसार इस प्रकार की समाजवादी वर्कशाप की प्रतिस्पर्धा में व्यक्तिगत कारखाने नही टिक सकेंगे क्योकि समाजवादी वर्कशाप में मजदूर बहुत मन लगाकर कार्य करेंगे और इन कारखानो का सगठन पूजीपतियो के कारखानो की अपेक्षा उत्तम होगा। कालान्तर मे समाजवादी वर्कशाप अथवा कारखानो की वृद्धि होती जावेगी और व्यक्तिगत कारखाने उनकी प्रतिस्पर्धा में खडे न हो सकने के कारण समाप्त हो जावेगे। इस प्रकार प्रतिस्पर्धा ही प्रतिस्पर्धा को समाप्त कर देगी और समाज में यह परिवर्तन स्वत. शातिपूर्वक हो जावेगा। समाज इन स्वसचालित कारखानो के सघो के आधार पर निर्मित होगा और उसमें शोषण का स्थान नही होगा।

ऊपर वर्णित चारो फ्रेंच विचारको के विचारो ने सर्वसाधारण का ध्यान तत्कालीन अर्थ रचना के दोषो की ओर अवश्य आकर्षित किया परन्तु उनका कोई सफल प्रयोग न हो सका। अतएव इन विचारको के विचार केवल विवाद का विषय बने रहे।

मार्क्सवाद

समाजवादी विचारधारा को उग्र, व्यावहारिक तथा व्यापक बनाने का श्रेय कार्ल मार्क्स को है। कार्ल मार्क्स जर्मनी के एक यहूदी परिवार में उत्पन्न हुआ और अपने क्रातिकारी विचारो के कारण अपने देश से निर्वासित होकर उसने अपना अधिकाश जीवन लदन मे व्यतीत किया। यही उसने अपना प्रसिद्ध ग्रथ "डैस कैपिटल"—"पूजी" लिखा जो मार्क्सवाद की विचारधारा का आधार ग्रंथ माना जाता है।

मार्क्स ने अपनी समाजवादी विचारधारा को अत्यन्त स्पष्ट शब्दो में

रखने का प्रयत्न किया और पिछले समाजवादियो के विचारो को अवैज्ञानिक बतलाया। मार्क्स की विचारधारा सक्षेप मे इस प्रकार है —

मार्क्स का कहना है कि मानव समाज का इतिहास सतत वर्ग सघर्ष का इतिहास है। सामन्तवादी युग मे जब दास प्रथा प्रचलित थी तब यह वर्ग सघर्ष कभी गुप्त और कभी प्रकट मे शोषको तथा शोषितो के बीच में चलता रहता था।

पूजीवाद का उदय अमेरिका और एशिया की खोज का परिणाम था क्योकि इन महाद्वीपो की खोज के कारण विस्तृत बाजार उपलब्ध हो गए थे। सामन्ती युग मे औद्योगिक उत्पादन पर कारीगर-सघो का एकाधिकार था यह कारीगर-सघ अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के लिए उत्पादन करने के लिये सर्वथा अयोग्य थे, अतएव इन सघो का स्थान एक नई व्यवस्था ने ले लिया जिसमें एक व्यापारी बिखरे हुए कारीगरो से उत्पादन करवाता था। आरम्भ मे उत्पादन हाथ से होता था किन्तु यत्रो के आविष्कार तथा भाप के आविष्कार के कारण औद्योगिक क्राति हुई और बडे-बडे कारखाने ससार के भिन्न-भिन्न देशो के लिये माल तैयार करने लगे। जब समस्त पृथ्वी एक बडा बाजार बन गई तो रेलो और भाप से चलने वाले जहाजो का आविष्कार हुआ और यातायात मे क्राति हो गई।

पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था ने समाज मे एक महत्त्वपूर्ण क्राति उत्पन्न कर दी। उसने सामन्तवादी ढाचे को नष्ट कर दिया और प्राचीन सामाजिक, धार्मिक और जातीय सम्बन्धो को समाप्त कर दिया। पूजीवादी व्यवस्था में मनुष्य और मनुष्य मे अपने स्वार्थ के अतिरिक्त और किसी प्रकार का सम्बन्ध नही रहा। उसने व्यक्ति का मूल्य रुपये-पैसे मे निर्धारित कर दिया। अभी तक जो भावना, धार्मिक विश्वास, तथा राजनीतिक मान्यताओ के आवरण मे शोषण छिपा हुआ था वह पूजीवादी व्यवस्था मे छिन्न-भिन्न हो गया और शोषण शुद्ध रूप में प्रकट हो गया। अभी तक जिन पेशो के प्रति समाज में श्रद्धा और सम्मान था उनका पूजीवाद में सम्मान समाप्त हो गया। चिकित्सक, वकील, पुरोहित, कवि, कलाकार, वैज्ञानिक सभी वेतनभोगी

इसका परिणाम यह होता है कि पूजीपति वर्ग उत्पादन के साधनो का विनाश करके, नये बाजारो को विजय करके, तथा पुराने बाजारो का और अधिक गहरा शोषण करके इस आर्थिक सकट का सामना करने का प्रयत्न करता है। परन्तु इसका परिणाम यह होता है कि कालान्तर में और अधिक भयकर आर्थिक सकट उपस्थित हो जाता है। यही पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था के विनाश का कारण बनता है।

पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था ने अपनी मृत्यु का अस्त्र ही केवल उत्पन्न नही किया वरन् उस अस्त्र को चलाने वाले वर्ग को भी उत्पन्न कर दिया। आधुनिक पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था ने एक सर्वहारा-वर्ग अर्थात् मजदूर वर्ग को उत्पन्न कर दिया। मजदूर मशीन का एक पुर्जा मात्र बन जाता है और कार्य करने में जो पहले सुख अनुभव करता था वह समाप्त हो जाता है। मजदूर को केवल अपने जीवित रहने तथा सन्तान उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त मजदूरी मिलती है।

जैसे-जैसे पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था का विकास होता जाता है वैसे-ही-वैसे निचला मध्यवर्ग भी समाप्त होता जाता है। छोटा दूकानदार, कारीगर, व्यापारी, तथा किसान सभी सर्वहारा-वर्ग मे सम्मिलित हो जाते हैं। जब मशीन के कारण कुशलता की आवश्यकता नही रहती और सभी मजदूर एक समान हो जाते है तथा बडी सख्या में औद्योगिक केंद्रो मे उनकी भारी भीड इकट्ठी हो जाती है तब उनका अनायास ही सगठन हो जाता है। जब वे सगठित हो जाते है तो आरम्भ मे उनकी शक्ति अपने वेतन बढवाने तथा सुविधायें प्राप्त करने में लगती है परन्तु फिर वे राजनीतिक सगठन करते है तथा पूजीवादी समाज को नष्ट कर देने की तैयारी करने लगते है।

मजदूर और सर्वहारा-वर्ग राजनीतिक दलो का निर्माण करते है। यह सर्वहारा-वर्ग के राजनीतिक दल पूजीपतियो मे मतभेद तथा परस्पर स्वार्थों के सघर्ष का लाभ उठाकर अपने स्वार्थों को आगे बढाते है। पूजीपति स्वय आपस मे प्रतिस्पर्धा करते है। एक देश के पूजीपति दूसरे देश के पूजीपति से प्रतिस्पर्धा करता है और बहुधा अपनी सहायता के लिये मजदूरो का

आवाहन करता है। इस प्रकार सर्वहारा-वर्ग को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त हो जाती है। दूसरे शब्दो मे पूजीपति वर्ग सर्वहारा-वर्ग को अपने विनाश का हथियार दे देता है।

क्रमश समाज के बहुत से समूह जोकि सत्तावान और शासक वर्ग मे होते हैं वे भी सर्वहारा-वर्ग मे मिल जाते है। पूजीवादी व्यवस्था की चक्की उन्हें भी पीस देती है और या तो वे सर्वहारा-वर्ग मे परिणत हो जाते है अथवा उन्हे अपनी स्थिति के लिये खतरा दिखलाई देने लगता है तो वे सर्वहारा-वर्ग के साथ मिल जाते हैं और उससे सर्वहारा-वर्ग को शिक्षा तथा बौद्धिक चैतन्य प्राप्त हो जाता है। कालान्तर मे जब वर्ग-सघर्ष अपने अन्तिम क्षणो में पहुचता है तो पूजीवादी वर्ग मे विघटन की क्रिया आरम्भ हो जाती है और जिस प्रकार सामन्तवादी प्रथा के नाश के समय कतिपय सामन्त पूजीपतियो के साथ आ गए उसी प्रकार पूजीपति वर्ग की निम्न श्रेणी सर्वहारा-वर्ग के साथ आ जाती है।

मार्क्स का कहना था मजदूर वर्ग ही वास्तव मे क्रातिकारी होता है। अन्य वर्ग जैसे कारीगर तथा किसान पूजीवाद से सघर्ष करते हुए समाप्त हो जाते है क्योकि वे प्रतिक्रियावादी होते है क्योकि वे इतिहास के धुरे को पीछे की ओर ढकेल देना चाहते है। वे वास्तव मे कभी क्रांतिकारी नही हो सकते।

सर्वहारा-वर्ग के पास कोई धन-सम्पत्ति नही होती। उसका राष्ट्रीय स्वरूप समाप्त हो जाता है। कानून, नैतिकता, धर्म उसके लिये कोई महत्व नही रखते क्योकि उनके द्वारा पूजीपतियो के स्वार्थो की रक्षा होती है। समाज मे उस समय बहुत बड़ी संख्या मे सर्वहारा-वर्ग उत्पन्न हो जाता है। जब सर्वहारा-वर्ग सघर्ष करता है तो सर्वप्रथम वह एक देश मे सीमित रहता है। एक देश के मजदूर पहले अपने देश के पूजीपतियो से हिसाब चुकता करते हैं और अन्त मे वह अन्तर्राष्ट्रीय बन जाता है। जो गृह-युद्ध अभी तक छिपा हुआ चल रहा था वह एक खुले विद्रोह में परिणत हो जाता है और पूजीपति वर्ग का विनाश करके सर्वहारा-वर्ग अपनी सत्ता स्थापित कर लेता है।

जब सर्वहारा-वर्ग के हाथ में सत्ता आ जावेगी तो उत्पादन के सभी साधनो पर राज्य का अधिकार हो जावेगा। व्यक्तिगत उत्पादन तथा जायदाद का अत हो जावेगा। क्रमश समस्त जनसख्या मजदूर श्रेणी में आ जावेगी। उस समय समाज मे वर्ग नही रहते केवल एक ही वर्ग रह जाता है। धनोत्पत्ति पर समाज का नियत्रण स्थापित हो जावेगा और फिर राजनैतिक सत्ता का कोई विशेष महत्त्व नही रह जावेगा। राजनीतिक सत्ता एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर अत्याचार करने का साधन मात्र है। जब समस्त जनसख्या एक ही वर्ग मे आ जावेगी तो फिर मजदूर वर्ग स्वय अपनी राजनीतिक सत्ता को समाप्त कर देगा।

यदि कार्ल मार्क्स की विचारधारा का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया जावे तो यह स्पष्ट हो जावेगा कि जहा कार्ल मार्क्स ने आधुनिक पूजीवादी व्यवस्था का विश्लेषण करते हुए बहुत सी सही बातो की ओर सकेत किया वहा उसकी बहुत सी मान्यताए ठीक नहीं उतरी। यद्यपि यह ठीक है कि एक सीमा तक आधुनिक पूजीवादी व्यवस्था मे पूजी का केन्द्रीकरण हुआ है परन्तु छोटी मात्रा का उत्पादन समूल नष्ट नही हो गया। आज भी खेती मे तथा व्यापार में छोटी मात्रा का कारबार होता है। और न यह बात ही सिद्ध होती है कि सर्वहारा-वर्ग निरन्तर निर्धन होता गया है। मजदूर वर्ग की स्थिति में बहुत सुधार हुआ है और उसको थोडी समृद्धि प्राप्त हुई है।

कार्ल मार्क्स की विचारधारा के उपरान्त उससे मिलती-जुलती अन्य समाजवादी विचारधाराओ ने भी जन्म लिया। उनमे फेबियन समाजवादी विचारधारा, सिंडिकेलिज्म तथा बोलशैविज्म मुख्य है। फैबियन समाजवादी विचारधारा का मुख्य आधार यह है कि परिस्थितिवश समाज को समाजवाद को अपनाना होगा और अन्तत समाज की सभी आर्थिक हलचलो पर राज्य का नियत्रण स्थापित हो जावेगा। उस दशा में समाज में एक क्राति हो जावेगी। परन्तु केवल कतिपय आर्थिक हलचलो पर राज्य का नियत्रण हो जाने मात्र से समाजवाद की स्थापना नही हो सकती।

सिंडिकेलिज्म के समर्थको का विश्वास है कि मजदूर सभाओ या सघो

के द्वारा ही समाज में क्रांति की जा सकती है और वही नई समाज रचना की इकाई बन सकती है। समाज मे क्रांति करने के लिये वे आम हड़ताल का उपयोग करना चाहते हैं। उनका कथन है कि यदि मजदूर वर्ग आम हड़ताल कर दे तो पूजीपति वर्ग घुटने टेक देगा। इसके उपरान्त प्रत्येक धधे के मजदूर सघ उस धधे को अपने नियत्रण मे ले लेगे। उस समय राज्य संस्था की कोई आवश्यकता नही रह जायगी। भिन्न भिन्न मजदूर सघ अपना कोई बडा सघ बना लेगे। और इस प्रकार वे आपस मे सम्पर्क स्थापित कर सकेंगे। राज्य जैसी सस्था का लोप हो जावेगा। सिंडिकेलिज्म के समर्थक मार्क्स के वर्ग-सघर्ष मे विश्वास करते है।

बोल्शेविज्म समाजवाद का अन्तिम स्वरूप है जो मार्क्सवाद को स्वीकार करता है। लेनिन जो उसका प्रमुख भाष्यकार है उसके अनुसार सबसे पहले समाजवादियो को सर्वहारा-वर्ग की शक्ति से, यदि आवश्यकता हो तो रक्तमयी, क्रांति करनी चाहिये। जब समाज में क्रांति हो जावे और राज्य की सत्ता सर्वहारा-वर्ग के हाथ मे आ जावे तो राज्य यत्र का उपयोग पूजीपति वर्ग का विनाश करने में किया जाना चाहिए। लेनिन की मान्यता थी कि राज्य यत्र अत्याचार का एक साधन है। केवल भेद इतना ही रहेगा कि पहले पूजीपति वर्ग सर्वहारा-वर्ग पर अत्याचार करते थे अब सर्वहारा वर्ग पूजीपति वर्ग पर अत्याचार करेगा। अतएव केवल राज्य यत्र सर्वहारा-वर्ग के हाथ मे आ जाने से शुद्ध कम्यूनिज्म स्थापित नही हो सकता। उस दशा मे तो मध्य की दशा होगी। सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित हो जावेगा जो वर्गरहित समाज का निर्माण करेगा, धन-उत्पादन के साधनों पर समाज का नियत्रण स्थापित हो जावेगा, और व्यक्तियो को अधिक उत्पन्न करने के लिये विवश करना होगा उसके लिये बल का प्रयोग करना होगा। परन्तु क्रमशः स्थिति में परिवर्तन हो जावेगा। प्रत्येक प्रकार की आर्थिक हलचल का समाजीकरण हो जावेगा और व्यक्ति पुरस्कार पाने या दड से बचने के लिये कार्य नही करेंगे वरन् स्वेच्छा से उत्पादन करेंगे। उस दशा मे आर्थिक जीवन अथवा राजनीतिक जीवन में

बल प्रयोग की आवश्यकता नही रहेगी। अस्तु क्रमश राज्य संस्था लुप्त हो जावेगी।

लेनिन के उत्तराधिकारी स्टालिन ने लेनिन के सिद्धात में एक महत्व-पूर्ण सशोधन कर दिया। लेनिन की मान्यता थी कि कम्यूनिज्म अकेले एक देश मे स्थापित नही हो सकता। यही कारण था कि 'कामिन्टर्न' सभी पूजी-वादी राष्ट्रो मे कम्युनिस्ट दल स्थापित करके वहा विद्रोह और क्राति करवाने का प्रयत्न करता था। किन्तु स्टालिन का मत था कि कम्यूनिज्म एक देश मे स्थापित हो सकता है। यही कारण था कि लेनिन की मृत्यु के उपरान्त क्रमश अन्तर्राष्ट्रीय विद्रोह कराने का प्रयत्न शिथिल पड गया और १९४३ मे 'कामिन्टर्न' को भग कर दिया गया।

यद्यपि सोवियत रूस के नेता यह दावा करते है कि वहा वर्ग-विहीन समाज की स्थापना हो चुकी है परन्तु वहा आज भी सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित है और राज्य सस्था पहले से अधिक सबल और शक्तिवान होती जा रही है। आज कोई सुदूर भविष्य में भी कल्पना नही कर सकता कि सोवियत रूस मे कभी सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकत्व, अथवा राज्य सस्था समाप्त हो सकेगी।

अध्याय बारहवां

विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था (सर्वोदय)

हम पिछले अध्यायो मे पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था तथा समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध मे अध्ययन कर चुके हैं। पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था में हमने देखा कि बडी मात्रा के उत्पादन के फलस्वरूप अधिकाश व्यक्ति मजदूरो की श्रेणी मे पहुच गए है। उनको कारखानो में काम करने मे कोई सतोष या आनन्द नही आता। वे यत्र के एक पुर्जे की भाति काम करते हैं, उनको अत्यत दयनीय जीवन व्यतीत करना पडता है मजदूर अपने व्यक्तित्व का विकास करने में सर्वथा असमर्थ हैं। दूसरी ओर कतिपय पूजीपतियो के पास कल्पनातीत धन एकत्रित हो जाता है, वे धन-कुबेर बन जाते हैं, उनके पास अनत आर्थिक सत्ता आ जाती हैं। इस आर्थिक सत्ता का उपयोग करके वह देश के राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर छा जाते हैं। हमारा लोकतत्र वास्तव में खिलवाड बन जाता है और अधिकाश व्यक्ति दासता के भारी बोझ को ढोते रहते है।

पूजीवाद की प्रतिक्रिया समाजवाद या साम्यवाद मे हुई। समाजवादियो ने देखा कि धनोत्पत्ति की पूजीवादी व्यवस्था में मजदूरो का शोषण करके कुछ लोग समाज में सत्तावान बन जाते हैं अतएव उनकी दृष्टि धन के वितरण की ओर गई और उन्होने धन उत्पादन के साधनो पर समाज का अधिकार स्थापित करना आवश्यक बतलाया। कार्ल मार्क्स की विचारधारा ने बल पकडा और हमने देखा कि समाजवादी या साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था का उदय हुआ। सोवियत रूस में धनोत्पत्ति के साधनों पर समाज का अधिकार स्थापित हो गया है। कारखानो का सचालन राज्य द्वारा होता है, खेती सामूहिक फार्मों पर होती है, तथा साख और व्यापार की व्यवस्था राज्य के अधिकार मे है। परंतु सोवियत रूस में यह सब किस प्रकार सभव हुआ। हिंसा के द्वारा, सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा पहले तत्कालीन राज्ययत्र पर साम्यवादियो ने अधिकार

कर लिया। समाजवादियो की यह मान्यता है कि वर्ग-संघर्ष को तीव्र करके ही पूंजीवादी समाज को बदला जा सकता है। उसके लिए सशस्त्र क्रान्ति की आवश्यकता होगी। जब सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा राज्ययंत्र पर सर्वहारा-वर्ग का अधिकार हो गया तो उन्होंने निजी सम्पत्ति तथा उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व समाप्त कर दिया।

राज्य ने भीमकाय पुतलीघर स्थापित किए और बहुत बड़ी मात्रा में उत्पादन किया जाने लगा। परन्तु उन बडे-बडे कारखानो के संचालन के लिए अत्यन्त योग्य कुशल तथा बुद्धिमान व्यक्तियो की आवश्यकता होती है। कालान्तर मे समाज मे इनका विशेष सम्मान और प्रभाव होना अनिवार्य है। जहा समाजवाद वर्गविहीन समाज की रचना का स्वप्न देखता है वहा इस केन्द्रित उत्पादन मे ही विशेष प्रतिष्ठावान तथा साधनयुक्त प्रभावशाली वर्ग के उदय होने के चिह्न छिपे हुए है। फिर इस प्रकार के उत्पादन में सारा जीवन ही योजनाबद्ध हो जाता है। व्यक्ति को अपने ढग से सोचने, अपने विचार अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने की छूट नही रहती। उसके व्यक्तित्व के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। सर्वहारा वर्ग के अधि-नायकत्व की आड में एक दल-विशेष का अधिनायकत्व स्थापित हो जाता है और उसमें भी सत्ता कुछ राजनीतिक नेताओ तथा बडे-बडे कारखानो के संचालकों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है। कालान्तर मे उस सत्ता के दुरुपयोग को कौन रोक सकता है? अस्तु हम देखते है कि समाजवादी या साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था मे भी मनुष्य को सही अर्थो मे आर्थिक स्वतंत्रता नही प्राप्त होती।

अतएव विचारशील व्यक्ति यह निश्चय नही कर पाते है कि मनुष्य को सुखी और समृद्धिशाली बनाने के लिए कौन-सी अर्थ-व्यवस्था आदर्श-व्यवस्था हो सकती है। आज मानव समाज के समक्ष सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मनु य की भावी समाज रचना कैसी हो। समाज रचना के प्रश्न पर विचार करना जब हम आरम्भ करते हैं तो सबसे पहला प्रश्न जो हमारे सामने उपस्थित होता है वह है हमारे जीवन सम्ब धी दर्शन का। वर्तमान

पश्चिमीय सभ्यता ने हमारे सामने जिस जीवन-दर्शन को उपस्थित किया है उसका आधार आवश्यकताओ को निरतर बढाते जाना और उनकी तृप्ति के लिए निरतर प्रयत्न करते रहना है। औद्योगिक पूजीवाद के प्रसार और विकास के लिए इस जीवन-दर्शन की ही आवश्यकता थी। समाजवादियो तथा साम्यवादियो ने भी इसी जीवन-दर्शन को स्वीकार किया है। वे भी आवश्यकताओ की निरतर वृद्धि और उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करने में विश्वास करते है। परन्तु धन का समाज मे समान वितरण हो इस कारण वे धनोत्पत्ति के साधनो पर समाज का अधिकार चाहते हैं।

परन्तु जिस जीवन-दर्शनका उद्देश्य भावी शोषण रहित, और वर्गविहीन समाज की स्थापना करना हो उसके अनुसार आवश्यकताओ की अभिवृद्धि ही हमारा लक्ष्य नही हो सकता। जिस समाज रचना का ध्येय लाभ कमाना नही वरन् मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति होगा उस समाज रचना के अनुकूल तो यही जीवन-दर्शन हो सकता है कि मनुष्य अपने जीवन का सच्चा उद्देश्य अपने व्यक्तित्व का सर्वतोमुखी विकास करना समझे। ऐसी दशा में मनुष्य उन्ही आवश्यकताओ की पूर्ति करना चाहेगा जो उसके व्यक्तित्व के विकास मे सहायक होगी। इसका अर्थ यह होता है कि मनुष्य को अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरल और सादे जीवन को अपनाना चाहिए। और आवश्यकताओ की अभिवृद्धि नही वरन् उनको परिष्कृत करना मनुष्य जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। हम जिस नई समाज रचना की कल्पना करना चाहते हैं, उसका आधार जीवन सम्बन्धी यही दृष्टिकोण होना चाहिए।

हम ऊपर ही कह आये है कि मनुष्य जीवन का सच्चा उद्देश्य अपने व्यक्तित्व का विकास करना है। जो समाज रचना इस उद्देश्य की पूर्ति मे सहायक हो वही हमारे विचार से सही समाज रचना समझी जानी चाहिए। इस दृष्टि से भावी समाज रचना में प्रत्येक व्यक्ति को निम्नलिखित तीन बातो की प्राप्ति होना आवश्यक है। (१) सुरक्षा, (२) स्वतंत्रता, (३) अवकाश। हम पिछले अध्यायो में यह जान चुके है कि पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था तथा समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे हमे ऊपर लिखी तीन बातो की

प्राप्ति नही हो सकती । अब हम राष्ट्रपिता गाधी की विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था—जो सर्वोदय का एक अगमात्र है—का अध्ययन करेगे ।

गाधी जी के अर्थ रचना सम्बधी विचार

राष्ट्रपिता गाधीजी का कहना था कि वर्तमान उद्योगवाद का दोष उसका पूजीवादी आधार तो है ही साथ ही उसका दूसरा मुख्य आधार केन्द्रित उत्पादन भी उतना ही दोषपूर्ण है । उनका कहना था कि जहा समाजवादी आधुनिक उद्योगवाद के प्रथम आधार पूजीवाद को शोषण का कारण मानता है और इस कारण उसे समाप्त कर देना चाहता है वहा वह केन्द्रित उत्पादन को शोषण का कारण नही स्वीकार करता और उस कारण केन्द्रित उत्पादन को आवश्यक मान कर उसे अधिकाधिक विकसित करना चाहता है । गाधीजी का कहना था कि केन्द्रित उत्पादन भी आधुनिक उद्योगवाद का मुख्य दोष है और यह भी शोषण का एक मुख्य कारण है । उनका तर्क यह था कि केन्द्रित उत्पादन मे यह अनिवार्य है कि आर्थिक सत्ता उन कतिपय लोगो के हाथो में केन्द्रित हो जावेगी जो उस केन्द्रित उत्पादन का सचालन करने वाले होगे । उसका परिणाम यह होगा कि कालान्तर में यह व्यवस्थापको का वर्ग आज के पूजीपतियो के समान ही हमारे समाज मे प्रभावशाली हो जावेगा, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में इनका बहुत अधिक प्रभाव होगा और वह सर्वसाधारण पर उसी प्रकार अपना आधिपत्य जमा लेगें जैसा कि आज पूजीपतियो ने जमा लिया है । इसका परिणाम यह होगा कि चाहे 'पूजीपतियों' का विनाश कर दिया जावे परन्तु यदि केन्द्रित उत्पादन होगा तो जनता को कभी 'स्वतत्रता' प्राप्त नही हो सकती । उसका समाजवादी अवस्था में भी पूर्ववत् शोषण होता रहेगा ।

गाधीजी का कहना था कि यदि हम चाहते है कि मनुष्य का शोषण न हो और उसकी 'स्वतत्रता' बनी रहे तो मनुष्य को ऐसा सरल आर्थिक-जीवन, जिसका आधार यथासभव स्वावलबी गाव या गावो का समूह हो और जिसमे उत्पादन का छोटे-छोटे ग्रामोद्योगो में विकेन्द्रीकरण हो, अपनाना होगा ।

उनका यह विचार था कि विकेन्द्रित-उत्पादन होने पर ही प्रत्येक व्यक्ति सच्ची 'स्वतंत्रता' अनुभव कर सकेगा। बड़ी मात्रा के केन्द्रित उद्योगों के विरुद्ध एक आपत्ति यह भी है कि उनमें काम करने वाले मजदूरों का जीवन मशीनवत् हो जाता है और उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। यही कारण है कि महात्मा गाधीजी ने विकेन्द्रित उत्पादन और सर्वोदय अर्थ-व्यवस्था का अनुमोदन किया।

गांधीजी का सर्वोदय—ससार में समय-समय पर विविध समाज-व्यवस्थाये रही हैं। कभी-कभी तो एक ही देश में और एक ही समय में कई व्यवस्थाओं का प्रचलन होता है। वास्तव में वही समाज व्यवस्था सर्वोत्तम है जिसमें समाज के किसी अग-विशेष का हित न होकर समस्त समाज का कल्याण हो। कोई वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण न करे, समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करने वालो में कोई भेद न हो, अर्थात् समाज वर्गविहीन हो, समाज में ईर्ष्या, द्वेष तथा विषमता न हो। इसी को सक्षेप में 'सर्वोदय' कहा जा सकता है।

महात्मा गाधी के शब्दो मे सर्वोदय के सिद्धान्त इस प्रकार हैं (१) सबके भले में अपना भला, (२) पूजीपति और मजदूर, वकील और चपरासी इंजीनियर और किसान सभी के श्रम का मूल्य एक-सा होना चाहिए क्योंकि आजीविका का अधिकार सबों को एक समान है; (३) सादा, मजदूर, और किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है। महात्मा गाधी ने बतलाया कि जिस कार्य अथवा आचरण से एक भी व्यक्ति का अहित होता हो वह किसी के भी हित में नहीं हो सकता। हम सब एक हैं, एक दूसरे के हैं, हम जिसे शत्रु समझते हैं उसकी हानि हमारी हानि है। महात्मा गाधी का कहना था, "सबका अधिक-से-अधिक भला करना ही सच्चा, गौरवयुक्त और मानवी सिद्धान्त है और यह अधिकतम स्वार्थ त्याग से ही कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है।"

महात्मा गाधी ने बहुत स्थानो पर लिखा है कि मै अहिंसा का नम्र पुजारी होने के नाते उपयोगितावाद अर्थात बड़ी-से-बड़ी संख्या का अधिक-से-अधिक

हित का समर्थन नही कर सकता । मै तो "सर्वभूत हिताय", अर्थात् सबके अधिकतम लाभ और सुख के लिए ही प्रयत्न करूगा और इस आदर्श को प्राप्त करने मे मर जाऊगा। इस प्रकार इस आदर्श का पालन करने वाला इसलिए मरेगा कि दूसरे जी सके। दूसरो के साथ-साथ वह मर कर अपनी सेवा भी करेगा । सबके अधिकतम सुख के अन्दर अधिकाश का अधिकतम सुख भी मिला हुआ है । अतएव महात्मा गाधी के विचार के अनुसार सर्वोदय की स्थापना के लिए अहिसा अनिवार्य है।

आधुनिक युग में लोग साधन की अपेक्षा साध्य पर बल अधिक देते हैं परन्तु सर्वोदय साधन-शुद्धि पर विशेष बल देता है । महात्मा गाधी का कहना था कि जैसा साधन होगा वैसा ही साध्य भी हो जावेगा । ईश्वर ने हमे साधन पर नियत्रण रखने की ही शक्ति दी है । अस्तु, सर्वोदय साधन की शुद्धता के सम्बन्ध मे कोई समझौता नही कर सकता ।

ऊपर लिखे सर्वोदय के सिद्धान्त के अनुसार ही महात्मा गाधी साम्य-वादियो के इस सिद्धान्त को स्वीकार नही करते कि क्योकि मजदूर वर्ग ही समाज का प्रमुख वर्ग है, हमे उसके हितो को ही सर्वोपरि समझना चाहिए और साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए वर्ग-सघर्ष को तीव्र करके हिंसा के द्वारा भी अपनी कल्पना की समाज व्यवस्था स्थापित कर लेना चाहिए।

अहिसा तथा साधन-शुद्धि के सिद्धान्त के अतिरिक्त सर्वोदय के मूल आधार सादगी, विकेन्द्रीकरण स्वावलबन और आर्थिक समानता कहे जा सकते हैं।

सादगी——सर्वोदय को स्वीकार करने वाला पश्चिम के इस सिद्धान्त को स्वीकार नही करता कि आवश्यकताओ की निरतर वृद्धि की जावे और उनकी पूर्ति के लिए उद्विग्न रहा जावे। इसका एकमात्र उपाय यह है कि जीवन को सुखी और सम्पन्न बनाने के लिए जो आवश्यकताए हैं केवल उन्ही की तृप्ति की जावे । कृत्रिम आवश्यकताओ पर नियत्रण रक्खा जावे, विलासिता के पदार्थो पर कडा प्रतिबन्ध रहे । इससे हम एक ओर उनकी प्राप्ति के लिए होने वाली चिन्ता से, अनैतिक और हिंसात्मक कार्य करने से

के लिए नहीं। वे ऐसे कार्यों में उपयुक्त होंगे जिनमें मनुष्य को बहुत परिश्रम करना पड़ता है और उसे बहुत थकान हो जाती है। जिस यंत्र से बेकारी फैलती हो उसका उपयोग सर्वोदय अर्थ-व्यवस्था में नहीं होगा।

आर्थिक समानता—महात्मा गांधी का विश्वास था कि समाज में आर्थिक समानता को स्थापित करना नितान्त आवश्यक है। यही कारण था कि उन्होंने कहा कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करे, परन्तु उनकी आय उतनी होनी चाहिए कि जिससे उनकी आवश्यकताएं पूरी हो सकें क्योंकि आजीविका का अधिकार सबों को एक समान है। यदि हम इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लें तो प्रश्न यह उपस्थित होगा कि आवश्यकताओं का निर्णय किस प्रकार हो। जहां तक बुनियादी आवश्यकताओं का प्रश्न है कोई मतभेद नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति को पौष्टिक आहार मिलना चाहिए, स्वच्छ, हवादार मकान मिलना चाहिए, उचित वस्त्र मिलने चाहिए, स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए चिकित्सा का प्रबंध होना चाहिए, शिक्षा की व्यवस्था होना चाहिए, इत्यादि। यदि किसी व्यक्ति को विशेष परिस्थिति के कारण कुछ विशेष वस्तुओं की आवश्यकता हो तो उसको वह मिलनी चाहिए, उसमें कोई झगड़ा उपस्थित नहीं होगा। परन्तु यदि कोई व्यक्ति विलासिता को अपनाना चाहता है, अनेक प्रकार की वस्तुओं का उपभोग करना चाहता है, तभी समाज में संघर्ष उपस्थित होता है, परस्पर ईर्षा-द्वेष उत्पन्न होता है। निदान आर्थिक विषमता का मूल कृत्रिम आवश्यकताएं तथा परिग्रह की भावना है। आर्थिक समानता के लिए इसका नियंत्रण आवश्यक है।

प्रश्न यह है कि इस प्रकार की विकेंद्रित अर्थव्यवस्था अथवा सर्वोदय समाज की स्थापना किस प्रकार हो सकती है? क्या जिनके पास उत्पत्ति के साधन हैं उनसे बलपूर्वक हिंसा के द्वारा उनको छीन लेना चाहिए जैसा कि साम्यवादी विचारधारा के लोगों की मान्यता है। महात्मा गांधी का मत था कि हिंसा द्वारा लोगों के अधिकार में जो वस्तु है उससे उनको वंचित करना उचित नहीं है। उसका परिणाम यह होगा कि उनमें प्रतिहिंसा की भावना का उदय

होगा और समाज में अशान्ति, ईर्ष्या तथा द्वेष जागत होगा। अतएव महात्मा गाधी ने हृदय-परिवर्तन के द्वारा उन व्यक्तियो को जिनके पास आवश्यकता से अधिक जो भी उत्पत्ति के साधन हैं उनको समाज को अर्पण कर देने का सुझाव दिया। उनका कहना था कि यदि किसी के पास उसकी आवश्यकता से अधिक धन है तो उसको यह समझना चाहिए कि वह समाज का है, वह उसका ट्रस्टी मात्र है।

बहुतो को यह कल्पना विचित्र प्रतीत होती थी। वे यह मानने को तैयार नही थे कि कोई व्यक्ति स्वेच्छा से अपनी सम्पत्ति को दूसरो के लिए दे सकता है। परन्तु आचार्य विनोबा भावे के भूदान-यज्ञ ने इस दिशा मे लोगो को गम्भीरतापूर्वक सोचने पर विवश कर दिया है। आचार्य विनोबा ने कहा कि भूमि हवा और पानी की भाति प्रकृतिदत्त है। यह किसी एक व्यक्ति की नही है। जो जितनी भूमि का खेती के लिए उपयोग कर सकता है उससे अधिक रखने का उसे कोई अधिकार नही है। अस्तु जिनके पास अधिक भूमि है उसे उन्हे दान दे देनी चाहिए। १९५१ मे जब आचार्य विनोबा भावे तेलगाना मे पैदल यात्रा कर रहे थे तब उन्हे अनायास ही यह अनुभव हुआ और उन्होने भूमिहीन लोगो के लिए भूमि मागना आरम्भ कर दिया। क्रमशः देश भर मे यह आन्दोलन जोर पकड गया और आजतक चालीस लाख एकड से अधिक भूमि दान में प्राप्त हो गई। आचार्य विनोबाजी का लक्ष्य १९५७ तक पाच करोड़ एकड भूमि एकत्रित करना है जिससे कि भूमिहीन परिवारो को भूमि दी जा सके।

किन्तु यह आन्दोलन केवल भूमि का दान मागने तक ही सीमित नही है। भूमि-दान के साथ-साथ सम्पत्ति-दान का कार्यक्रम भी चल रहा है। सम्पत्ति का छठवा भाग लिया जाता है। जो सम्पत्ति का दान करता है वही उसका ट्रस्टी रहता है किन्तु उस सम्पत्ति का विनियोग विनोबाजी अथवा उस कार्य के लिए नियुक्त समिति करेगी।

जिनके पास न भूमि है न सम्पत्ति है वे अपने श्रम का समाज के निर्माण-कार्य में दान कर सकते है। श्रमदान से पैसे के स्थान पर श्रम की प्रतिष्ठा

बढेगी, ऊच-नीच की भावना का लोप होगा और आर्थिक समानता का मार्ग प्रशस्त होगा। श्रमदान से वे सब निर्माण-कार्य हो सकेंगे जो धनाभाव के कारण रुके रहते हैं।

इसी प्रकार बौद्धिक कार्य करने वालो से अपनी बुद्धि का दान करने का आग्रह किया जाता है। यदि वे लोग अपनी बुद्धि तथा कार्य-कुशलता का दान करे तो शिक्षण, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि का स्वरूप ही बदल जावेगा।

सर्वोदय और समाजवाद—सर्वोदय और समाजवाद में बहुत समानता है, दोनो ही जाति-भेद, रग-भेद, स्त्री-पुरुष का भेद, देश-भेद, धर्म-भेद तथा अस्पृश्यता को नष्ट करने वाले है। परन्तु उनमे मौलिक भेद भी हैं। जहा समाजवाद व्यक्तियो की सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार स्थापित करना चाहता है वहा सर्वोदय निजी सम्पत्ति के विरुद्ध नही है। वह सम्पत्ति को समाज की अमानत मानता है, जो यह शर्त पूरी नही करते उनसे सम्पत्ति की धरोहर अहिसक उपायो से लेकर दूसरो को दे देने का समाज को अधिकार है। समाजवाद केन्द्रित उत्पादन का समर्थक है परन्तु सर्वोदय केन्द्रित उत्पादन में विश्वास नही करता। वह विकेन्द्रित उत्पादन का समर्थक है।

समाजवाद क्योकि भौतिकवादी है अत वह आवश्यकताओ की उत्तरोत्तर वृद्धि मे विश्वास करता है और उनकी पूर्ति के लिए निरतर उत्पादन में वृद्धि करने पर बल देता है। परतु सर्वोदय आध्यात्मिकता पर बल देता है अस्तु, वह सादे जीवन का आदर्श स्वीकार करता है। समाजवाद की दृष्टि में राज्य सस्था सदैव बनी रहने वाली है परन्तु सर्वोदय सत्ता के विकेन्द्रीकरण के द्वारा राज्यहीन समाज को अपना लक्ष्य मानता है। समाजवाद में व्यक्ति की सत्ता नही है, अत सर्वोदयवादियो के अनुसार उसके अन्तर्गत वास्तविक और सच्चे लोकतत्र की स्थापना सम्भव नही है परन्तु सर्वोदय मे व्यक्तियो के विकास का मार्ग सदैव प्रशस्त रहता है।

सर्वोदय और साम्यवाद

साम्यवाद वर्गविहीन शोषण रहित तथा राज्यहीन समाज की स्थापना

चाहता है। सर्वोदय का भी यही लक्ष्य है परन्तु साम्यवाद की भाँति वह हिंसा में विश्वास नही करता। अतएव कुछ लोग यह कहते है कि साम्यवाद से हिंसा निकाल देने पर वह सर्वोदय बन जाता है। परन्तु बात ऐसी नही है। सर्वोदय और साम्यवाद मे मौलिक अन्तर है। सर्वोदय का आधार आत्मवाद है परन्तु साम्यवाद प्रत्यक्षवाद को स्वीकार करता है। सर्वोदय सोचता है कि जो चेतना शक्ति मुझमे है वही दूसरे मे है, अत मुझे हिंसा से काम लेने का अधिकार नही है। साम्यवाद आवश्यकताओ की वृद्धि का तथा हिंसा का पक्षपाती है, अतएव उसे कारखाने तथा हथियार चाहिए। इनके लिए पूजी की आवश्यकता होती है अतएव पूजीवाद का कट्टर विरोधी होते हुए भी साम्यवाद पूजी को आवश्यक मानता है। वह केन्द्रित उत्पादन में विश्वास करता है। परतु सर्वोदय हिंसा, तथा पूजी मे विश्वास नही करता। वह विकेन्द्रित उत्पादन का भक्त है। केन्द्रित उत्पादन में वह हिंसा देखता है। साम्यवाद का वर्ग-सघर्ष में विश्वास है, अत हिंसा उसके लिए एक आवश्यक साधन है परन्तु सर्वोदय मानता है कि प्रत्येक मनुष्य में सद्वृत्ति होती है जिसे प्रेम से जगाकर ही काम कराया जा सकता है। साम्यवाद अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राज्य सत्ता पर अधिकार पाने की प्रतीक्षा करता है परन्तु सर्वोदय तत्काल कार्य करना आरम्भ कर देता है।

सही अर्थ रचना का स्वरूप

ऊपर हमने भिन्न-भिन्न अर्थ रचनाओ के सम्बन्ध में अध्ययन किया है। हमने यह देखा कि हमारा लक्ष्य मानव को सुरक्षा, स्वतंत्रता तथा अवकाश की आवश्यकता है। यही हमारे समाज का जीवन-लक्ष्य हो सकता है। यह तो स्पष्ट है उपयुक्त आदर्श को पूरा करने वाली अर्थ-रचना पूजीवादी नही हो सकती। जहा तक समाजवादी अर्थ-व्यवस्था तथा सर्वोदय की अर्थ-व्यवस्था का प्रश्न है दोनो ने मानव को सुखी बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया है। समाजवादी या साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था में मनुष्य की स्वतंत्रता का अवश्य लोप हो जाता है जोकि विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था मे सुरक्षित रहती है। परन्तु

जहा तक अवकाश का तथा सुरक्षा का प्रश्न है यह कहना कठिन है कि केन्द्रित उत्पादन को हम बिलकुल छोड सकते है। हम देखते है कि रक्षा, शक्ति, खनिज-पदार्थ, इजीनियरिंग, मशीन, वन तथा भारी रासायनिक पदार्थों सम्बन्धी उद्योग तथा रेलवे तथा दूसरे सार्वजनिक सेवा के उद्योग केद्रित आधार पर ही चल सकते है। अतएव आवश्यकता यह है कि हमे अपनी भावी अर्थ-व्यवस्था में सर्वोदय तथा समाजवाद का समन्वय बिठाना होगा। हमे केन्द्रित उत्पादन तथा विकेन्द्रित उत्पादन दोनो को ही स्वीकार करना होगा। कतिपय क्षेत्रो में केन्द्रित उत्पादन होगा और अन्य क्षेत्रो मे विकेन्द्रित उत्पादन होगा।

हमारी सम्मति में भावी अर्थ-रचना गाधीजी के और समाजवादी विचारो के समन्वय के आधार पर स्थापित की जानी चाहिए।

उपसंहार——हमने पिछले अध्यायो मे देखा कि मानव ने किस प्रकार आदिकाल से आजतक अपनी अर्थ-व्यवस्था को परिस्थिति के अनुकूल परि-वर्तित किया। आज भी मानव समाज अपने जीवन को सुखी और समृद्धि-शाली बनाने के लिए नवीन प्रयोग कर रहा है। इसी प्रयोग में मानव जाति की प्रगति का इतिहास छिपा है। जब तक मानव जाति मे यह गुण विद्यमान है तब तक यह आशा बनी रहेगी कि मनुष्य इस धरा को एक सुखी, समृद्धिशाली परिवार मे परिणत करने मे सफल हो सकेगा।

अध्याय तेरहवां

भारत का आर्थिक विकास

यह हम पहले ही लिख चुके हैं कि प्राचीन काल में भारत के वैभव और समृद्धि की चर्चा ससार भर मे थी और मध्य युग में भी भारत अपने धन, ऐश्वर्य, कला-कौशल और औद्योगिक उन्नति के लिए ससार मे प्रसिद्ध था। परन्तु देश का राजनैतिक पराभव होने के कारण और विजातियो की दासता में फस जाने के कारण देश के उद्योग-धधो का पतन होना आरम्भ हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की घातक व्यापार तथा उद्योग नीति तथा ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप कारखानो की स्थापना ने भारत के उद्योग-धधो की रीढ तोड दी और उनका तेजी से पतन होना आरम्भ हो गया। क्रमश भारत के उद्योग-धधो का ह्रास हो गया और भारत पूर्ण रूप से खेतिहर राष्ट्र बन गया।

उन्नीसवी शताब्दी की अन्तिम दो दशाब्दियो मे राजनैतिक चेतना के साथ-साथ देश के नेताओ का ध्यान हमारी औद्योगिक अवनति की ओर भी गया। दादा भाई नौरोजी तथा रानाडे ने देश का ध्यान हमारी औद्योगिक अवनति की ओर दिलाया और उन्होंने देशवासियो को बतलाया कि यह हमारी औद्योगिक अवनति का ही कारण है कि देश इतना निर्धन है और उसे आये दिन दुर्भिक्षो का सामना करना पडता है। भारत सरकार ने जो दुर्भिक्ष आयोग स्थापित किया था उसका भी यही मत था कि देश का एकमात्र केवल खेती पर ही निर्भर हो जाना दुर्भिक्ष का मुख्य कारण है। अतएव देश का औद्योगीकरण करना आवश्यक है। भारतीय अर्थशास्त्रियों ने इस विचार का घोर विरोध किया कि भारत को प्रकृति ने ही कृषि-प्रधान राष्ट्र बनाया है। अल्प समय में जापान में जिस तीव्र गति से

विकास हुआ उससे भारतीयो को यह स्पष्ट हो गया कि जन-हित का ध्यान रखने वाली सरकार क्या कर सकती है। सरकार की भारत के औद्योगिक *विकास की ओर उदासीनता ने भारतीयो को क्षुब्ध कर दिया।*

देश मे राजनैतिक असतोष के साथ-साथ आर्थिक असतोष भी घर करता जा रहा था। यही कारण था कि जब १९०५ मे बग-भग के विरुद्ध अत्यन्त तीव्र क्षोभ उत्पन्न हुआ तो भारत मे स्वदेशी आन्दोलन भी तीव्र हुआ और ब्रिटिश माल का बहिष्कार किया गया। देश में उस समय एक अपूर्व जागृति उत्पन्न हुई और भारतीयो ने अनेक फैक्टरिया स्थापित की परन्तु यह प्रारम्भिक उद्योग सफल नही हुए। व्यावहारिक शिक्षा और व्यापारिक अनुभव का अभाव तथा राज्य की उदासीनता इस असफलता के मुख्य कारण थे। यद्यपि देश में स्वदेशी आन्दोलन के कारण औद्योगिक उन्नति के लिए *अनुकूल वातावरण बन गया था परन्तु सरकार की उदा*सीनता के कारण देश को उसका कोई लाभ न मिल सका। सरकार ने नवस्थापित कारखानो की रक्षा के लिए विदेशो से आने वाले माल पर कोई रक्षात्मक कर नही लगाये। अस्तु, वे कारखाने असफल हो गए। अस्तु, १९१४ के प्रथम महायुद्ध तक भारतीयो द्वारा सचालित आधुनिक धधो का देश मे सर्वथा अभाव था। हा, अग्रेज पूजीपतियो ने अवश्य ही चाय के बाग, जूट-पटसन की मिले, कोयले की खाने खडी कर दी थी जिनकी ब्रिटेन के माल से कोई प्रतिस्पर्धा नही थी। केवल थोडी सी सूती वस्त्र की मिले बम्बई और अहमदाबाद में भारतीयो द्वारा अवश्य स्थापित की गई थी जिनको मंचेस्टर तथा लकाशायर के मिल-मालिक पनपने नही देना चाहते थे। प्रथम महायुद्ध के पूर्व सीमेट तथा लोहे और इस्पात के धधे का आरम्भ ही हुआ था। इसमे सीमेंट का धधा तो अग्रेज पूजीपतियो द्वारा ही सचालित था परन्तु १९०७ में स्वर्गीय जमशेदजी ताता द्वारा स्थापित "ताता आइरन तथा स्टील कम्पनी" की स्थापना भारत के औद्योगिक विकास मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी। यह लोहे और इस्पात का अत्यन्त विशाल कारखाना था और पूर्णतया भारतीय उद्योग था।

प्रथम महायुद्ध काल में औद्योगिक उन्नति

प्रथम महायुद्ध के समय भारत को अपना औद्योगिक विकास करने के लिए एक स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ। उस समय शत्रु राष्ट्रों से और विशेषतया जर्मनी से माल आना सर्वथा बन्द हो गया था। मित्र राष्ट्र भी भारत को माल भेजने मे असमर्थ थे। परन्तु भारत इस अवसर का लाभ उठाने के लिए सर्वथा अयोग्य था। भारत मे यत्रो को बनाने के उद्योग स्थापित नही किए गए थे और विदेशो मे मशीनो का आना सम्भव नही था। इसके अतिरिक्त देश मे कुशल शिल्पी तथा टेकनिकल विशेषज्ञो का अभाव था, और सरकार उदासीन थी। इन कारणो से भारत युद्धकाल में कोई भी औद्योगिक प्रगति नही कर सका। परन्तु जनता और सरकार का ध्यान भारत की इस दयनीय परिस्थिति की ओर अवश्य गया। सर्वसाधारण को युद्धकाल में प्रत्येक वस्तु का अभाव प्रतीत होने लगा। उसके कारण उन्हें देश की औद्योगिक अवनति अखरने लग गई। अंग्रेजी सरकार ने भी देखा कि यदि भारत एक औद्योगिक राष्ट्र होता तो युद्ध में उससे बहुत अधिक सहायता मिल सकती थी। अतएव भारत सरकार ने एक औद्योगिक आयोग स्थापित किया और उसकी रिपोर्ट के अनुसार उद्योग-धधो को विकसित करने का प्रयत्न किया गया। इस प्रकार कई उद्योगो की देश में स्थापना हुई और पुराने धधो को प्रोत्साहन मिला। उनमें से निम्नलिखित धंधे उल्लेखनीय है। सूती कपडे, पटसन, लोहे-इस्पात, चमडे, इजीनियरिंग उद्योग, शक्कर, कागज, सीमेंट, दियासलाई, काच, छुरी-चाकू, खाद, रग, वार्निश, रासायनिक पदार्थ।

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) काल में भारतीय उद्योग-धधो के विकसित होने का फिर एक स्वर्ण अवसर उपस्थित हुआ। इस बार स्थिति और भी अनुकूल थी। जापान के युद्ध मे सम्मिलित हो जाने से पूर्व में भी भयकर युद्ध हुआ। पूर्व में भारत का इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था। होना तो यह चाहिए था कि भारत के उद्योग-धधों का शीघ्रातिशीघ्र

विकास किया जाता परन्तु वास्तव में ऐसा नही हुआ। भारत की विदेशी सरकार का अब भी वही पुराना सकुचित दृष्टिकोण बना हुआ था। भारत सरकार ने उस समय केवल उन उद्योग-धधो को प्रोत्साहन दिया जिनका उत्पादन सीधे सैनिक उपयोग मे आता था और जो दूसरे देशो से प्राप्त नही की जा सकती थी। उन उद्योगो को स्थापित करने का कोई भी प्रयत्न नही किया गया जो भावी औद्योगिक उन्नति की दृष्टि से महत्त्व के थे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत की औद्योगिक उन्नति जिस गति से युद्धकाल मे होनी चाहिए थी नही हो सकी।

सरकार की इस उदासीनता के होते हुए भी युद्ध ने भारत की औद्योगिक उन्नति में सहायता पहुचाई, इसको अस्वीकार नही किया जा सकता। कई उद्योग-धधे जो पहले से ही विद्यमान थे बहुत अधिक विकसित हो गए। उनका उत्पादन बहुत अधिक बढ गया। गृह-उद्योग तथा छोटे-छोटे कारखानो का भी तेजी से विकास हुआ और कुछ महत्त्वपूर्ण नये धधे स्थापित हुए। इनमें अस्त्र-शस्त्र बनाने के कारखाने, अलूमीनियम के कारखाने, हवाई जहाज बनाने का कारखाना, रासायनिक पदार्थ बनाने के कारखाने, मशीन टूल बनाने के कारखाने, तथा औषधिया बनाने के कारखाने मुख्य थे। इनके अतिरिक्त बाइसिकिल बनाने तथा मोटर बनाने का उद्योग भी स्थापित हुआ। इसी समय भारत मे प्रथम बार समुद्री जहाज बनाने का धधा भी विकसित हुआ।

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त भारत स्वतत्र हुआ, किन्तु साथ ही उसका विभाजन भी हो गया। देश का अग-भग हो गया उसकी भौगोलिक इकाई नष्ट हो गई। जहा स्वतत्र हो जाने के कारण हम अपने भाग्य-निर्माता स्वय बन गए वहा देश के विभाजन के कारण हमारे राष्ट्रीय जीवन को गहरी क्षति पहुची और उसकी प्रकृति-दत्त सम्पूर्णता को गहरा धक्का लगा। देश के विभाजन के कारण लाखो व्यक्ति अत्यन्त अशान्त और विवशता की दशा में भारत मे आये। इसका प्रभाव दोनो देशो की जनसख्या के पेशेवार बटवारे पर पडा और लाखो व्यक्तियो को आर्थिक बरबादी का सामना करना पडा। इसका देश पर आर्थिक तथा औद्योगिक दृष्टि से बहुत हानिकर प्रभाव पडा।

देश के विभाजन का एक बुरा प्रभाव यह भी हुआ कि कपास तथा जूट जैसे महत्त्वपूर्ण कच्चे पदार्थों के लिए भारत पाकिस्तान पर निर्भर हो गया। इसके अतिरिक्त पश्चिमी पजाब तथा सिंध जैसे उपजाऊ तथा नहरो द्वारा जल प्राप्त करने वाले प्रदेश भारत से पृथक् हो गए। अस्तु, देश में खाद्यान्न की समस्या ने विकट परिस्थिति खडी करदी।

उधर स्वतत्रता प्राप्त हो जाने के उपरान्त देश की औद्योगिक नीति क्या हो इसका निश्चय नही हुआ था। धधो के राष्ट्रीयकरण की माग की जा रही थी, उद्योगपतियो और श्रमिको के सम्बन्ध बिगड गए और उनमें संघर्ष बढने लगा। सरकार की सहानुभूति स्वभावत श्रमिको के साथ थी, इस कारण उद्योगपति सशक हो उठे। उधर मशीनो का अभाव था, कच्चे माल की कमी थी, इमारत बनाने के सामान का दुर्भिक्ष था और टैक्निल ज्ञान का अभाव था। इन सब कारणो से देश में एक भयङ्कर औद्योगिक सकट उपस्थित हो गया। उत्पादन में शिथिलता आ गई और उद्योगपति निराश हो कर शिथिल हो गए। सरकार ने एक औद्योगिक सम्मेलन निमत्रित किया। उस सम्मेलन ने सरकार से अपनी भावी औद्योगिक नीति की घोषणा करने की मांग की। तदनुसार भारत सरकार ने ६ एप्रिल १९४८ को अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा की।

औद्योगिक नीति की घोषणा करते हुए सरकार ने आर्थिक योजना के महत्त्व को स्वीकार किया और एक योजना आयोग (प्लानिंग कमीशन) नियुक्त करने का निश्चय प्रगट किया। इसके अतिरिक्त राज्य ने इसको भी स्वीकार किया कि भविष्य मे औद्योगिक उन्नति के सम्बन्ध में उसको अधिकाधिक क्रियात्मक भाग लेना होगा। अतएव घोषणा में राजकीय तथा व्यक्तिगत उत्पादन-क्षेत्रो का इस प्रकार विभाजन किया गया। सैनिक सामग्री, ऐटोमिक शक्ति का उत्पादन, और रेलवे यातायात पर राज्य का एकछत्र अधिकार होगा। दूसरी श्रेणी मे वे धधे रक्खे गए जिनमे नए कारखाने राज्य द्वारा ही स्थापित किए जावेंगे परन्तु यदि राष्ट्रहित में यह आवश्यक हो तो राज्य को व्यक्तिगत उत्पादन का सहयोग लेने का भी अधिकार

होगा। कोयला, लोहा, इस्पात, हवाई जहाज-निर्माण, समुद्री जहाज निर्माण, टेलीफोन, टेलीग्राम, तथा वायरलैस सेट का उत्पादन और खनिज तेल सम्बन्धी उद्योग इस श्रेणी मे आते हैं। इन धधो से सम्बन्ध रखने वाले विद्यमान कारखानो का दस वर्ष तक राष्ट्रीयकरण नही होगा। दस वर्षों के उपरान्त सरकार इस सम्बन्ध मे फिर विचार करेगी और यदि सरकार किसी कारखाने का राष्ट्रीयकरण करेगी तो उचित क्षतिपूर्ति की जावेगी। तीसरी श्रेणी मे शेष सभी उद्योग सम्मिलित है और उनमें व्यक्तिगत उत्पादन के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता है, परन्तु राज्य भी इस क्षेत्र में अधिकाधिक भाग लेगा। यदि राज्य को राष्ट्र के हित में आवश्यक प्रतीत हो तो उद्योग-धधो मे हस्तक्षेप करने में सकोच नही करेगा। राज्य व्यक्तिगत उत्पादन का नियोजन और नियत्रण भी करेगा।

प्रथम पचवर्षीय योजना

अपनी घोषित औद्योगिक नीति के अनुसार भारत सरकार ने योजना आयोग की स्थापना की और उसने प्रथम पचवर्षीय योजना को देश के समक्ष प्रस्तुत किया। बहुत विचार विनिमय के उपरान्त प्रथम पचवर्षीय योजना को सरकार ने स्वीकार किया और वह कार्यान्वित की गई। यही हमारे राष्ट की 'प्रथम पचवर्षीय योजना' कहलाती है। इसका कार्यकाल एप्रिल १९५१ से मार्च १९५६ तक निश्चित किया गया है।

भारत कृषिप्रधान देश है और पाच लाख पचास हजार गावो मे बसी हुई देश की ८५ प्रतिशत जनसख्या प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से कृषि पर अपनी आजीविका के लिए निर्भर है। अस्तु, कृषि का विकास हमारे राष्ट्र के विकास की पहली अनिवार्य शर्त है। इसके अतिरिक्त जब इस योजना को बनाया गया था उस समय देश मे खाद्य पदार्थो की कमी के कारण देश को प्रति वर्ष बहुत बडी राशि मे अनाज विदेशो से मगाना पडता था और सूती वस्त्र, जूट इत्यादि धधो के लिए पर्याप्त कच्चा माल भी नहीं मिलता था। ऐसी दशा में स्वाभाविक ही था कि हमारी प्रथम पचवर्षीय योजना

कृषि के विकास को प्राथमिकता देती। कृषि के विकास के लिए खाद, बीज, खेती के यत्र, पशुओं की उन्नति करना, भूमि की रक्षा करना, बजर भूमि को खेती के योग्य बनाना, भूमि के क्षरण को रोकना, सिंचाई की सुविधायें उपलब्ध करना तथा गावों का सर्वांगीण विकास करना आवश्यक है। अस्तु, प्रथम पचवर्षीय योजना मे खेती की उन्नति और पैदावार की वृद्धि को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है और उसके बाद यातायात एव गमनागमन, उद्योग, शिक्षा, समाज सेवा इत्यादि को स्थान दिया गया।

प्रथम पचवर्षीय योजना का समस्त व्यय २०६९ करोड रुपए था। योजना के अनुसार यह व्यय नीचे लिखे कार्यों पर किया जा रहा है —

कृषि और सामुदायिक विकास योजनायें ३६० करोड ४३ लाख रुपए
सिंचाई और जल-विद्युत् ५६१ करोड ४१ लाख रुपए
यातायात और संवहन ४९७ करोड १० लाख रुपए
उद्योग १७३ करोड ४ लाख रुपए
सामाजिक सेवाए ३३९ करोड ८१ लाख रुपए
पुन स्थापन ८५ करोड ९ लाख रुपए
विविध ५१ करोड ९९ लाख रुपए

पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत खेती की पैदावार को बढाने पर विशेष बल दिया गया और खेती की पैदावार मे वृद्धि के नीचे लिखे लक्ष्य निर्धारित किए गए। १९५१ की तुलना में १९५६ तक नीचे लिखे अनुसार खेती की पैदावार में वृद्धि करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया।

अनाज—७६ लाख टन
कपास—१२½ लाख गाठें
पटसन—२०·९ लाख गाँठे
(गन्ना) गुड—७ लाख टन
तिलहन—४ लाख टन

कृषि के क्षेत्र में योजना का मुख्य उद्देश्य यह है कि विभाजन से हुई दो करोड़ एकड़ भूमि की क्षति पूरी हो, पटसन और कपास की जो विभाजन

के उपरान्त भारी कमी हो गई थी वह पूरी की जा सके और हमारी मिलें कच्चे माल के लिए आत्मनिर्भर हो जावे। जनसख्या की वृद्धि को ध्यान में रखते हुए देशवासियो के लिए खाद्यान्न की उपज इतनी वढाई जा सके कि विदेशो से अनाज न मगाना पडे।

ऊपर लिखे अनुसार कृषि-उत्पादन में वृद्धि करने के लिए निम्नलिखित उपाय काम में लाये गये।

भारत सरकार शीघ्रता से सिंचाई की नई योजनाओ को कार्यान्वित कर रही है। दामोदर, भाखरा-नागल, हरिखेपत्तन, और हीराकुड की बहु-उद्देशीय योजनाओ पर तेजी से कार्य चल रहा है और उनसे जल और विद्युत् प्राप्त की जा रही हैं। उनके पूरा होने पर इन प्रदेशो की कायापलट हो जावेगी और वहा कृषि और उद्योग-धधो का शीघ्रतासे विकास होगा। इन बहु-उद्देशीय योजनाओ के अतिरिक्त कोसी योजना, चम्बल योजना, रिहान्द योजना, कृष्णा योजना तथा कोयिना योजना प्रथम पचवर्षीय योजना काल मे प्रारम्भ कर दी गई है जो कि द्वितीय पचवर्षीय योजना काल मे पूरी होगी। इन बडी योजनाओ के अतिरिक्त हजारो की सख्या मे ट्यूब वैल, साधारण कुये तथा तालाब बनाये गए हैं।

सिचाई और बिजली के अतिरिक्त बजर भूमि को खेती के योग्य बनाया जा रहा है, परती भूमि पर खेती की जा रही है, भूमि के क्षरण को रोका जा रहा है और भूमि का सुधार किया जा रहा है। केन्द्रीय ट्रैक्टर सगठन की सहायता से १५ लाख एकड बजर भूमि को खेती के योग्य बनाया गया है।

भूमि के सुधार के अतिरिक्त उत्तम बीज, खाद, उत्तम यत्र की व्यवस्था की गई है। खाद बनाने के लिए सिदरी में एक विशाल कारखाना स्थापित किया गया है और पशुओ की नस्ल को सुधारने की व्यवस्था की गई है।

पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत खेती की पैदावार मे वृद्धि करने के अतिरिक्त गावो को आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से अधिक समृद्धिशाली बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। ५५ क्षेत्रो में ग्राम सामुदायिक योजनाओ

को कार्यान्वित किया जा रहा है। इनके परिणामस्वरूप हमारे ग्रामो का जीवन अधिक सुन्दर, परिष्कृत तथा समृद्धिशाली बनता जा रहा है।

खेती और गावो के विकास के अतिरिक्त ग्रामोद्योगों का भी विकास शीघ्रता से किया जा रहा है। रेल, सडक, हवाई सर्विस, डाकखाने, तार, इत्यादि की सुविधाओ का विस्तार किया जा रहा है। उद्योग-धधो की उन्नति तेजी से हो रही है। हमारी मिलो का बना हुआ वस्त्र अब अफ्रीका, तथा एशिया के बाजारो मे बिकता है। यहा तक कि औद्योगिक क्रान्ति के जन्मदाता ब्रिटेन मे मैंचेस्टर के व्यवसायी भारत के बने हुए वस्त्र से भयभीत हैं। वह वस्त्र ब्रिटेन में भी बिकने लगा है। देश का उत्पादन तेजी से बढ रहा है। भारत अब अपने रेल के डिब्बे, एंजिन, जहाज, मोटर, साइकिले, सिलाई की मशीने स्वय बनाने लगा है। वह दिन दूर नहीं है कि राष्ट्र इन वस्तुओ के लिए स्वावलम्बी बन जावेगा। शिक्षा, तथा कला के विकास की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है और राष्ट्र के स्वास्थ्य को उन्नत करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं।

स्वतत्र हो जाने के उपरान्त देश मानो सोने से जाग पड़ा है। प्रत्येक दिशा मे देश आश्चर्यजनक गति से आगे बढ रहा है। स्वतत्रता का प्रकाश पाच लाख पचास हजार गावो के कोटि-कोटि भारतीयो की कुटियो में भी फैले और भारतीय मनुष्यो जैसा जीवन व्यतीत कर सकें इसके लिए समूचा राष्ट्र आज कृतसकल्प है।

प्रथम पचवर्षीय योजना समाप्ति पर है और दूसरी पचवर्षीय योजना की रूपरेखा तैयार की जा चुकी है। नये-नये धधे स्थापित किए जा रहे हैं। भारत सरकार जर्मनी के इस्पात विशेषज्ञो की सहायता से उडीसा के रोरकेला में, रूसी विशेषज्ञों की सहायता से मध्यप्रदेश के भिलाई नामक स्थान पर और अंग्रेज विशेषज्ञों की सहायता से पश्चिमी बंगाल मे दस-दस लाख टन इस्पात उत्पन्न करने वाले अत्यन्त भीमकाय कारखानों की स्थापना करवा रही है। यह प्रयत्न किया जा रहा है कि सभी आवश्यक यत्रो का निर्माण भारत में ही होने लगे। द्वितीय पचवर्षीय योजना को १

अप्रेल १९५६ से लागू कर दिया जावेगा। द्वितीय पचवर्षीय योजना का लक्ष्य है कि राष्ट्र की आय में पाच प्रतिशत की प्रतिवर्ष वृद्धि हो, पाच वर्षों में १ करोड १० लाख व्यक्तियो को अधिक काम मिले और कृषि तथा उद्योग-धंधो का उत्पादन बहुत अधिक बढ जावे।

स्वतत्र हो जाने के उपरान्त महान् राष्ट्र भारत ने अपने अतीत गौरव और समृद्धि को फिर से प्राप्त करने का दृढ सकल्प कर लिया है। आज भारत का मस्तक स्वाभिमान से ऊचा है। भारतीय अपने अभावो के विरुद्ध सघर्ष कर रहे है। वह दिन दूर नही है जब कि भारत अपने अतीत गौरव तथा समृद्धि को पुन प्राप्त करेगा और एक बार फिर वह विश्व का नेतृत्व करेगा। आज प्रत्येक देशभक्त भारतीय का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह राष्ट्र के इस नव निर्माण यज्ञ मे अपने कर्तव्य की आहुति दे जिससे हमारा देश अपने महान् अतीत के अनुकूल महान् भविष्य का निर्माण कर सके।